शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जुलाई : १९६५ ☆ वर्ष २१वाँ, अषाढ़, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ३

जीवन में.....

जीवन में प्रत्येक अवसर पर अध्यात्म का प्रेम एवं धैर्य रखना हमारा कर्तव्य है। परंतु इतने में ही हमारा प्रयत्न पूरा नहीं होता; वह तो अभी प्रयत्न की प्रारम्भिक भूमिका ही है। जीवन में वह अध्यात्मप्रेमरूपी सोपान हाथ लगा कि तुरन्त उसकी सीढ़ियाँ चढ़ना हैं। अध्यात्म प्रेम उस अनुभव का सोपान है। अध्यात्मप्रेम जितना अधिक होगा, अनुभव उतना ही निकट होगा।

पवित्र ज्ञानस्वरूप आत्मा का अधिकार 'अध्यात्म' है।

जो अध्यात्म की चर्चा प्रेमपूर्वक सुनता है, वह धन्य है—ऐसा संतों ने कहा है; तो फिर साक्षात् अध्यात्म के अनुभवरूप परिणमित धर्मात्मा की क्या बात!! ऐसे संत की शरण में रहकर जीवन में अध्यात्मप्रेम को अधिकाधिक पुष्ट करें और जीवन साधना को सफल बनाएँ... इस जीवन में एक ही कर्तव्य है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२४३]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ
१.	ब्रह्मचर्य	१
२.	भगवान श्री ऋषभदेव	
३.	हे जीव तू जाग	
४.	मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रवचनों से	
५.	भाई ज्ञान का मार्ग सुहेला रे (आध्यात्मिक पद)	
६.	क्या व्यवहार रत्नत्रय सच्चा मोक्षमार्ग है	
७.	अध्यात्म संदेश	
८.	निश्चय और व्यवहार नयों की मर्यादा	
९.	समाचार संग्रह	

प्रौढ़ जैन शिक्षण-वर्ग

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) हर साल माफिक श्रावण सुदी ६ से भादवा बदी ९ (तारीख २-८-६५ से तारीख २१-८-६५) तक प्रौढ़ जैनदर्शन शिक्षण शिविर चलेगा, जैनधर्मी जिज्ञासुओं को हार्दिक आमंत्रण है। पत्र द्वारा प्रथम सूचना आना जरूरी है। यह शिक्षण शिविर मात्र पुरुषों के लिये ही होता है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जुलाई : १९६५ ☆ वर्ष २१वाँ, अषाढ़, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ३

ब्रह्मचर्य

[लेखक : श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन]

गतांक नं० २४२ से चालू

[भेदज्ञानरूपी विवेक, संयम और निर्मलज्ञान वैराग्य संपन्न की संगति से ही यौवनावस्था निर्विकार रह सकती है।]

ब्रह्मचर्य की भावनाएँ

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं—(१) स्त्रीराग कथा के श्रवण का त्याग, (२) उसके मनोहर अंगों के निरीक्षण का त्याग, (३) पूर्व के भोगों के स्मरण का त्याग, (४) पौष्टिक रसवाले आहार का त्याग, और (५) अपने शरीर का संस्कार—शृंगार करने का त्याग। मुमुक्षु ब्रह्मचारियों को उन भावनाओं का पालन करना चाहिये—ऐसा उपदेश देते हैं।

१—हे मुमुक्षु! स्त्रियों द्वारा कही जानेवाली, स्त्रियों के संबंध में कही जानेवाली, तथा जो स्त्री विषय में रागोत्पत्ति का कारण हो, ऐसी कोई भी कोई कथा सुनने के लिये यदि तू ऐसा बन गया हो कि मानों तेरे कान ही न हों—अत्यन्त बहरा हो! अर्थात् उन कथाओं को रागपूर्वक सुनने के लिये तू बिलकुल लक्ष न देता हो,

२—स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने के लिये यदि तू नेत्र रहित—अंध समान बन गया हो अर्थात् उन्हें रागपूर्वक देखने के लिये यदि तेरे नेत्र ही ऊपर न उठते हों,

३—पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का अब स्मरण करने के लिये यदि तू ऐसा बन गया हो कि मानों असंज्ञी-मनरहित हो, अर्थात् पूर्वकाल के भोगे हुए भोग का रागपूर्वक स्मरण कभी न करता हो,

४—घी-दूध आदि पौष्टिक अथवा स्वादिष्ट रसों का स्वाद लेने के लिये यदि तू अरसज्ञ हो गया हो अथवा मानो तेरे जिह्वा ही न हो, ऐसा बन गया हो अर्थात् ऐसे रसों का रागपूर्वक कभी ग्रहण न करता हो,

५—और अपने शरीर का शृंगार करने के लिये तथा उसे मनोहर बनाने के लिये यदि तू बिलकुल उदासीन-मानों कि वृक्ष समान हो गया हो,

—तो हम कहते हैं कि महान ब्रह्मचर्य की प्रौढ़ महिमा तूने वास्तव में प्राप्त कर ली है।

❀ ❀ ❀

श्री परमात्म प्रकाश से

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके।
यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया॥२-११७॥

अहो, वास्तव में वही जीव धन्य है, वही सत्पुरुष है और वही इस जीवलोक में जीता है कि जो जीव यौवनावस्थारूपी अति भारी तालाब में पड़े होने पर भी विषयरस में निमग्न नहीं होते परंतु शुद्धात्म भावना के बल से लीलामात्र में उसे पार कर लेते हैं।

जिसमें विषयाकांक्षारूप जल का किंचित् प्रवेश नहीं है और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नों से भरा है ऐसा, निज शुद्धात्मा की भावनारूपी जो नौका, उसके द्वारा यौवनावस्थारूपी महान तालाब को जो पार कर लेता है, वही सत्पुरुष है, वही धन्य है तथा उसी ने सच्चा जीवन जी जाना है।

इन्द्रियविषयों के प्रति स्नेह के कारण जगत दुःखी है—ऐसा बतलाकर वह स्नेह छोड़ने को कहते हैं:—

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति।
स्नेहासक्त सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य॥२-११५॥

हे योगी! रागादिरहित! वीतरागी परमात्मपदार्थ के ध्यान में स्थिर होकर, आत्मा के शत्रु

ऐसे स्नेह को (विषयों के प्रेम को) तू छोड़! क्योंकि विषयों का स्नेह कल्याणकारी नहीं है; विषयों के स्नेह में आसक्त हुआ सारा जगत शरीर-मन संबंधी अनेक प्रकार के दु:ख सहन कर रहा है, उन्हें तू देख। अपने स्नेह रहित ऐसे यह संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित हैं; इसलिये शरीरादिक पर स्नेह करके अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है। इसप्रकार शुद्धात्मतत्त्व की भावना का अभाव और विषयों का प्रेम ही दु:ख का मूल है।

यहाँ सार यह है कि—रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर उससे विरुद्ध ऐसे मिथ्यात्व-रागादि में किंचित् स्नेह नहीं करना चाहिये।

कहा है कि:—

तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यते क्वचित्।
स्नेहानुबिद्धहृदयं दु:खमेव पदे पदे॥

तब तक यह जीव सुखी है कि जब तक विषयों में किंचित् स्नेह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् शुद्धात्मभावना में ही मग्न रहता है; और शुद्धात्मभावना से च्युत होकर जिसका हृदय स्नेह से संबंधित है, उसे पग-पग पर दु:ख है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति के अभाव के कारण जो विषयी जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त है, वह विनश को प्राप्त होता है—ऐसा दृष्टांत सहित बतलाते हैं:—

रूपे पतंगा शब्दे मृगा: गजा स्पर्शे नश्यन्ति।
अलि कुलानि गन्धेन मत्स्या: रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति॥२-२१२॥

रूप में लीन हुए पतंगे दीपक में जलकर मर मिटते हैं, शब्द-विषय में लीन हुए हिरन शिकारी के बाण से मर जाते हैं; स्पर्श-विषय में लीन हुए हाथी गड्ढे में गिर कर बँध जाते हैं, सुगंध की लोलुपता से भौंरें कमल में बन्द होकर प्राण छोड़ते हैं और रस की लोभी मछलियाँ जाल में फँसकर मरती हैं; इसप्रकार एक-एक इन्द्रिय संबंधी विषय कषाय में आसक्त हुए जीव भी नाश को प्राप्त होते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लीन होनेवाले का तो कहना ही क्या?—ऐसा जाननेवाले विवेकी जीव शुद्धात्मा की भावना छोड़कर पंचेन्द्रिय विषयों में प्रीति कैसे करेंगे?—नहीं कर सकते।

पाँच इन्द्रियों के विषय की इच्छा, सो दुर्ध्यान है; उससे रहित जो निर्दोष परमात्मा, उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प समाधि से परम आह्लादरूप वीतरागी सुखामृत की

उत्पत्ति होती है; उस सुखरूपी अमृत से—पूर्ण कलश की भाँति-भरा हुआ, केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप जो कार्यसमयसार, उसे उत्पन्न करनेवाले शुद्ध उपयोग स्वभावरूप कारणसमयसार है; उसकी भावना से रहित संसारी जीव पंचेन्द्रिय के विषयों में अनुरागी होकर भव-भव में नाश को प्राप्त होते हैं।—ऐसा जाननेवाले विवेकी जीव विषयों के प्रति क्यों अनुराग करेंगे? कभी नहीं करेंगे। आत्मा को भूलकर जो जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों में मोहित है, वह अज्ञानी जीव अपने चिदानंदस्वभावी परमात्मतत्त्व का सेवन न करता हुआ, न जानता हुआ तथा न भाता हुआ, विषयों की रुचि से मिथ्यामार्ग की वाँछा करता हुआ नरकादि गति से गिरता है और वहाँ घानी में पेला जाना, आरे से काटा जाना, शस्त्रों से छिदना-इत्यादि हजारों प्रकार के दु:खों को रागादि तथा शरीरादि में ममत्ववश, प्रीति के वश भोगता है। और जो जीव शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना में लीन है तथा विषयों के प्रति स्नेह का त्यागी है, वह जीव अल्पकाल में संसार से पार हो जाता है।

इसलिये मोक्षार्थी भव्य जीवों को अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि और भावना प्रगट करके इन्द्रियविषयों की रुचि एवं भावना छोड़ने योग्य है।

❀ ❀ ❀

श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका से—

कामविजयी सन्तों को नमस्कार हो

इस जगत में कुछ ऐसे भी राजा विद्यमान हैं कि—जो दृष्टि डालते ही (बात-बात में) शत्रुदल को जीत लेते हैं; ऐसे राजाओं के हृदय में भी जिस कामदेवरूपी योद्धा ने वेगपूर्वक दृढ़ता से बाण घोंप दिया है, ऐसे अत्यंत पराक्रमी कामदेवरूपी सुभट को भी, सर्वप्रकार से शस्त्रों से रहित तथा जिनका आत्मा क्रोधादि कषायों से नाश से शांत हो गया है, ऐसे संतों ने लीलामात्र में नष्ट कर दिया है; ऐसे कामविजयी संतों को नमस्कार हो!

ब्रह्मचारी कौन हो सकता है?

जो समस्त पदार्थों से भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह 'ब्रह्म' है। अपने शरीर में आसक्तिरहित ऐसे मुनियों को ब्रह्मस्वरूप आत्मा में जो चर्या अर्थात् एकाग्रता, वही ब्रह्मचर्य है और ऐसे ब्रह्मचर्यपूर्वक बाह्य में जो वृद्धादि स्त्रियाँ हैं, उन्हें माता, बहिन या पुत्री समान निर्विकार दृष्टि से देखता है:—ऐसा होता है, तब वह यति ब्रह्मचारी है। (यहाँ अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के

ब्रह्मचर्य का समावेश कर दिया है। अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता, वह तो अंतरंग ब्रह्मचर्य है, वह वीतरागरूप है, और जब वीतरागता में स्थिर न रहा जा सके तथा बाह्य में लक्ष जाये, तब स्त्रियों के प्रति माता-बहिन या पुत्री का विकल्प आये परंतु अन्य कोई अशुभ विकल्प न आये, सो बहिरंग ब्रह्मचर्य अर्थात् व्यवहार ब्रह्मचर्य है। उसमें शुभराग है।)

दृढ़ संयम ही ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है

'भोजन करने से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है और भोजन न करने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है'—यह बात ठीक नहीं है; अर्थात् भोजन के गुण के आधार से ब्रह्मचर्य नहीं है, क्योंकि अत्यंत बलवान ऐसा सिंह सदा हाथी आदि के माँस का आहार करने पर भी वह वर्ष में एक ही बार रति क्रिया करता है और कबूतर सदा कंकड़ या दाने चुगता है, तथापि सदा रति करता है। इसलिये आहार के आधार से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता; परंतु साधु-संतों को एकमात्र मन का दृढ़ संयम ही उनके ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है।

साधु का मन किन्हीं बाह्य विषयों में न भटककर चैतन्यस्वरूप में ही दृढ़ता से लीन रहता है, वही दृढ़ संयम है। ऐसे संयम द्वारा ही ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है—ऐसा यहाँ बतलाया है। और जिनके ऐसा संयम होता है, उन्हें आहारादि की गृद्धि तो कभी होती ही नहीं परन्तु भावसंयम प्रगट किये बिना मात्र आहार छोड़ देने से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता—ऐसा जानना।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर, चैतन्य और भावमन की एकता होने पर अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है, वह भाव संयम और ऐसे भाव संयमी मुनि मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की यथाशक्ति रक्षा करते हैं, वह बाह्यमन का संयम है। इन दोनों प्रकार के संयम को सर्वद्ध ब्रह्मचर्य की रक्षा के हेतु जानना।

स्त्री के जिस शरीर के समक्ष केलस्तम्भ, कमल, चंद्र आदि भी प्रतिष्ठा नहीं पा सके (अर्थात् उन सबसे भी शरीर की सुंदर कहा जाता था), वही स्त्री का शरीर जब मृत कलेवर-मुर्दा हो जाता है और श्मशानभूमि में फेंक दिया जाता है तथा कौए आदि पक्षी उस शरीर को चींथकर छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, तब तो मनुष्य उस शरीर को देखते ही भयभीत होकर अपनी नाक ढँकते हुए एकदम उसे छोड़ देते हैं।

—ऐसे उस अपवित्र और अनित्य शरीर में मूर्खों के अतिरिक्त अन्य कौन सुख मानेगा ?

राजहँस

जिसप्रकार सड़े हुए मुर्दों से भरी हुई श्मशानभूमि प्राप्त होने पर काले कौओं की टोलियाँ ही संतुष्ट होती हैं, श्वेत राजहँसों के समूह उससे संतुष्ट नहीं होते, उसीप्रकार स्त्रियों का शरीर भले ही मनोहर हो, यौवनावस्था एवं लावण्य से परिपूर्ण हो तथा अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित हो, तथापि वह मात्र मूढ़ बुद्धिवाले पुरुषों को ही आनंद देनेवाला है परंतु सज्जनों को आनंद का कारण नहीं है अर्थात् कौए की भाँति मूर्ख अज्ञानी लोग ही स्त्री के शरीर में सुख की कल्पना करते हैं; परंतु राजहँस की भाँति ज्ञानी सत्पुरुष उसमें कदापि सुख नहीं मानते।

—ऐसे चैतन्यहँस, विषय विरक्त वीतरागी
संतों को नमस्कार हो!

धर्मात्मा को जगत में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परम प्रिय है; संसार संबंधी अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। जिसप्रकार गाय को अपने बछड़े के प्रति और बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है ? उसीप्रकार धर्मात्मा को अपने रत्नत्रय-स्वभावरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेद बुद्धि से परमवात्सल्य होता है। स्वयं को रत्नत्रय धर्म में परमवात्सल्य होने से अन्य जिन-जिन जीवों में रत्नत्रय धर्म को देखते हैं, उनके प्रति भी उसे वात्सल्य की ऊर्मि आये बिना नहीं रहती।

धर्म-साम्राज्य नायक-आदि तीर्थंकर

भगवान श्री ऋषभदेव

[भगवान श्री ऋषभदेव मुनिदशा में छह महीने के उपवास की प्रतिज्ञा बाद हस्तिनापुर में पधारते हैं और राजा श्रेयांसकुमार भगवान को इक्षुरस का दान परम भक्तिपूर्वक देते हैं। सारे नगर और राज्य में हर्ष और जय-जयकार होते हैं। वह दिन बैशाख शुक्ल तीज का होने से लोग उसे अक्षयतृतीया कहते हैं। भरत चक्रवती आदि आकर श्रेयांसकुमार की स्तुति करते हैं। भगवान ऋषभदेव तो आहार लेने के बाद वन जंगल में रहकर आत्मस्वरूप में झूलते हैं। बाद में क्या होता है, उसे जानने के लिये भगवान श्री जिनसेन आचार्य रचित महापुराण के आधार से लिखी गई यह लेखमाला पढ़िये।]

समस्त जीवों की रक्षा करनेवाले भगवान ऋषभदेव आत्मभान और उग्र जागृतिसहित अपने पापों का नाश करने हेतु उत्कृष्ट तप के धारक हुए। और माया, मिथ्यात्व और निदान तीन शल्यों को तो छोड़ दिये थे ही, विशेष नि:शल्य होते हुए विहार करने लगे। (व्रतों को पालते हुए मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, नवीन शिष्यों को दीक्षा देना आदि स्थविरकल्प कहलाते हैं और व्रतों को पालते हुए अकेला रहना और आत्मचिंतन करना जिनकल्प कहलाता है।) तीर्थंकरदेव जिनकल्पी मुनि होते हैं और वास्तव में यही उपादेय हैं। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय इसप्रकार चार ज्ञान नेत्रों के धारक तीर्थंकरदेव प्राय: प्रतिक्रमण रहित एक सामायिक चारित्र में ही रत रहते थे। भगवान स्वयं-अपने आप अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे, तथापि वे बुद्धि-शुद्धि हेतु निरंतर स्वाध्याय करते थे। उन्हीं का स्वाध्याय देखकर मुनिगण आज भी स्वाध्याय करते हैं।

[बाह्य-अभ्यंतर भेदसहित बारह प्रकार के तपों में ध्यान को छोड़कर स्वाध्याय समान अन्य तप न तो है, और न होगा।]

अध्यात्म तत्त्व के ज्ञाता वे भगवान कभी तो पर्वत के लतागृहों में, कभी गुफाओं में, कभी शिखरों पर ध्यानारूढ़ होते थे। कभी-कभी समाधि हेतु वे जहाँ गायों के खुरों तक के चिह्न नहीं थे, ऐसे अगम्य वनों में शून्य और जीव रहित एकांत विषम-भूमि पर विराजमान होते थे। मौनी, ध्यानी और निराभिमानी वे अतिशय बुद्धिवंत प्रभु धीरे-धीरे अनेक देशों में विहार करते हुए किसी दिन

पूश्मिलाह नगर गये और शकट-नामक उद्यान में ठहरे। शुद्ध-बुद्धिधारी प्रभु ने वहाँ ध्यान की सिद्धि—अर्थ वह वृक्ष के नीचे एक शिला पर ध्यानस्थ होकर चित्त की एकाग्रता धारण की। वे पूर्व दिशा की ओर मुख किये हुए पद्मासन में स्थित लेश्याओं की उत्कृष्ट शुद्धि के धारक हुए।

अतिशय विशुद्ध-बुद्धिवान भगवान ऋषभदेव ने सर्वप्रथम मोक्ष पद में अपना चित्त लगाया, एवं सिद्ध-परमेष्ठी के अष्ट-गुणों का चिंतवन किया। अनंत-सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाध, और अगुरुलघु ये आठ सिद्ध परमेष्ठी के गुण हैं, जिन्हें सिद्धदशा के इच्छुकों को अवश्य ध्यान करना चाहिये। जिनका पापरूपी पराग (धूल) घुल गया है, राग-द्वेषादि विभाव नष्ट हुआ है, ऐसे योगिराज ऋषभदेव के अंत:करण में उस समय ज्ञान -दर्शनादि शक्तियों से कहीं भी प्रमाद न रहा था, अर्थात् तब वे 'अप्रमत्त संयत' नामक सप्तम गुणस्थान में स्थित थे। ज्ञानादि परिणामों में परम-विशुद्धि को प्राप्त जिनेन्द्रदेव को क्लेशोत्पादक अशुभ लेश्याऐं अंश मात्र भी नहीं थी, अर्थात् सिर्फ शुक्ललेश्या थी। उससमय दैदीप्यमान हुई भगवान की ध्यानरूपी शक्ति ऐसे दिखाई देती थी मानो मोहरूपी शत्रु के नाश को सूचित करनेवाली बढ़ी हुई बड़ी भारी उल्का ही हो। तद्नंतर उत्कृष्ट विशुद्धि की भावना करते हुए भगवान सातिशय अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर मोक्षरूपी महल की सीढ़ी के समान क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए। प्रथम ही उन्होंने प्रमाद रहित हो सातवें गुणस्थान में अध:करण की भावना की और फिर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान प्राप्त कर अनिवृत्तिकरण नाम के नौवें गुणस्थान में प्राप्त हुए।

तदनंतर अध्यात्म तत्त्व के जाननेवाले भगवान सम्यक् ध्यान से क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म की धूलि उड़ा दी अर्थात् उसे बिलकुल ही नष्ट कर दिया। बाद में ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अंतराय कर्म की जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थी, उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नाम के दूसरे शुक्लध्यान से नष्ट कर डाला और इसप्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा चारों घातिया कर्मों को जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोक के देखनेवाले सर्वज्ञ हो गये। फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को केवलज्ञान हुआ था। जिनके केवलज्ञानरूपी विभूति उत्पन्न हुई है और जिन्हें समवशरण का वैभव प्राप्त हुआ है, ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान बहुत ही सुशोभित हो रहे थे।

श्रेणिक राजा ने नम्र होकर महामुनि गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवान! आप और अनंत

भव्य जीव शुक्लध्यान के प्रताप से केवलज्ञान और सिद्धपर्याय को प्राप्त होते हैं तो मैं आपसे ध्यान का स्वरूप जानना चाहता हूँ। हे योगिराज! आप कृपा करके मुझे बताइये। इसप्रकार पूछनेवाले राजा श्रेणिक से भगवान गौतम गणधर अपने दांतों की फैलती हुई किरणोंरूपी जल से उसके शरीर का अभिषेक करते हुए कहने लगे कि हे राजन्! कर्मों के क्षय का मुख्य कारण है, ऐसे शुक्लध्यान नाम के उत्कृष्ट तप का मैं आगमानुसार अच्छी तरह से उपदेश देता हूँ। किसी एक वस्तु में तन्मय होकर जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है, वह ध्यान है। जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है, उसे ध्यान कहते हैं और चंचल रहता है, उसे अनुपेक्षा, चिंता, भावना अथवा चित्त कहते हैं। ध्यान बारहवें गुणस्थान तक के जीवों को होता है। और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञदेव को भी योग के बल से होनेवाले आस्रव का निरोध करने के लिये उपचार से माना जाता है। ध्यान के स्वरूप को जाननेवाले बुद्धिमान पुरुष ध्यान उसी को कहते हैं कि जिसकी वृत्ति अपने बुद्धि-बल के आधीन होती है क्योंकि ऐसा ध्यान ही यथार्थ में ध्यान कहा जा सकता है। इससे विपरीत ध्यान अपध्यान कहलाता है। ध्यान, ज्ञान की ही पर्याय है (यानि आत्मा की) और ध्येय इस संसार में अपनी-अपनी पर्यायों सहित जो-जो पदार्थ है, सब आम्नाय के अनुसार ध्येय कोटि में प्रवेश करते हैं।

जो पुरुषार्थ का उपयोगी है, ऐसा अध्यात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है। मोक्ष प्राप्त होना ही पुरुषार्थ कहलाता है, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र उसके साधन कहलाते हैं। ये सभी ध्यान करने योग्य हैं।

ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल। प्रथम दो ध्यान पाप बंधक और अशुभ हैं, इसलिए हेय हैं। धर्मध्यान सम्यग्दर्शन से ही शुरु होता है और चौथे गुणस्थान में तथा पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में भी होता है, शुक्लध्यान आठवें गुणस्थान से शुरु होता है। और परम शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान है, (ध्यान का विशेष स्वरूप जानने के लिए महापुराण का २१ का पर्व देखिये।)

इसप्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करनेवाले गौतम गणधर ने जब मुनियों की सभा में ध्यान तत्त्व का निरूपण किया, तब भक्ति को धारण करनेवाले वे मुनिराज और श्रावक लोग बहुत संतुष्ट हुए।

जब जिनेन्द्र भगवान ने घातियाकर्मों पर विजय प्राप्त की, तब सारे संसार में शांति छा गई, कल्पवासी देवों में घंटनाद, ज्योतिषी में सिंहनाद, व्यंतर में नगाड़े की आवाज, भवनवासी में

शंखनाद होने लगा; और इंद्रों का शासन कम्पायमान हुआ, इंद्र अपने-अपने परिवार सहित केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिए ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर आया, जिसमें देव रूपी कारीगरों ने सैंकड़ों प्रकार की उत्तम उत्तम रचनाएँ की हैं, ऐसा भगवान ऋषभदेव का समवसरण बारह योजन विस्तारवाला है, समोशरण में धूलिशाल कोट होता है जो रत्नों से बना है, उस धूलिशाल के भीतर कुछ दूर जाकर गतियों के बीचोंबीच में स्वर्ण के बने हुए अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ (-जिनेन्द्र धर्म वैभव) सुशोभित हो रहे थे जो दूर से ही दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे। चार मानस्तम्भ चार दिशाओं में सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान के अनंत चतुष्टय ही प्रगट हुए हों, उन मानस्तम्भों के मूल भाग में जिनेन्द्र भगवान की स्वर्णमयी प्रतिमाएँ विराजमान थी, जिनकी इन्द्रलोक क्षीर सागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे, मानस्तम्भ का दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था, उनके देखने से मिथ्यादृष्टि जीवों का सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीन लोक के जीव उनका सम्मान करते थे; इसलिये विद्वान लोग सार्थक नाम से मानस्तम्भ कहते थे, साथ-साथ समोशरण के पास सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष कोट, वन वेदीका स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ और ध्वजाओं के खम्भे, ये सब तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई से बारह गुने ऊँचे होते हैं विद्वानों ने इनकी चौड़ाई आदि इनकी लम्बाई के अनुरूप बतलाई है, समोशरण में रत्नमयी खम्भों से खड़ा हुआ और आकाश में स्फटिकमणि का बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभा युक्त श्री मंडप बना हुआ था, तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान दे सकने के कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है, ऐसा वह श्री मंडप आकाश के अंत भाग में ऐसा सुशोभित हो रहा था कि मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो। अहा, जिनेन्द्र भगवान का यह कैसा अद्‌भुत महात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे चौड़े उस श्री मंडप में समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते हैं। समोशरण में तीन पीठ थी जो मणि से बनी हुई थी और ऐसी शोभती थी जैसे तीन लोक के शिखर पर विराजमान हुए सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते, उसके बीच में जिनेन्द्र भगवान के विराजमान होने का स्थान (गंध कुटी) बना हुआ था।

जिनके केवलज्ञान की उत्तम पूजा करने का अभिलाषी तथा अद्‌भुत विभूति को धारण करनेवाला इन्द्र चारों निकायों के देवों के साथ आकर दूर से ही नम्रीभूत हुआ था और समोशरण भूमि को देखता हुआ अतिशय प्रसन्न हुआ था, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सदा जयवंत रहे। **क्रमशः**

हे जीव तू जाग!

आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों! अनादि से सो रहे हो... अब तो जागो!... यह जागृत होने का अवसर आया है... शुद्ध निजपद की प्राप्ति का यह अवसर मिला है। शुद्ध चैतन्य आनन्दधाम ही तुम्हारा स्वगृह है, उसमें वास करो... राग तुम्हारा निवास धाम नहीं है। ऐसा कहकर संतों ने विभाव के वेग से दौड़ते हुए प्राणियों को पुकार कर रोक दिया है कि—अरे जीवो! ठहरों... इस विभाव के मार्ग से लौट आओ.. और स्वभाव के मार्ग से इस शुद्ध चैतन्यपद में प्रवेश करो!

(समयसार कलश १३८)

आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीवों! तुम जागृत होकर आत्मा के शुद्धस्वरूप को देखो। जिसे उपयोगस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं है, वह अंध है। भले ही उसके बाह्य नेत्र हों और शास्त्र पढ़ता हो, तथापि राग से भिन्न शुद्धात्मा को अंतर में जो नहीं देखता, वह अंध है। ऐसे जीवों को जागृत करने के लिये आचार्यदेव करुणापूर्वक संबोधन करके कहते हैं कि - अरे अन्ध प्राणियों! ज्ञान-आनन्द के स्वभाव से भरपूर पूर्ण आत्मा है, उसे भूलकर, अनादि संसार से लेकर रागादि का ही अनुभव कर रहे हो, उस राग में ही सदा मत्त हो रहे हो; परन्तु वह तो अपद है, अपद है, तुम्हारा चैतन्यपद वह नहीं है। निज चैतन्यपद को भूलकर मनुष्यादि भवों में, उस-उस शरीर में तथा रागादि परभावों में तुम मत्त हुए हो, मतवाले-पागल हुए हो। जिसप्रकार शराबी मनुष्य शराब पीकर तथा नशे में चूर होकर जहाँ-तहाँ अशुद्धता में पड़ा रहता है, उसीप्रकार तुम निजपद को भूलकर मोह-मदिरा से मत्त होकर शराबी की भाँति रागादि अशुद्धता में ही निजपद मानकर अनादि से उसमें सो रहे हो... परंतु अब तो जागो.. यह जागने का अवसर आया है; शुद्ध निजपद की प्राप्ति का यह अवसर आया है। रागादि तो अशुद्ध हैं, वह तुम्हारा निजपद नहीं है, वह तुम्हारा निजगृह नहीं है, उसमें तुम्हारा निवास स्थान नहीं है। शुद्ध चैतन्य का बना हुआ आनंदधाम अनंतगुणों का घर है, वही तुम्हारा निजपद है, वही तुम्हारा निजगृह है, उसी में तुम्हारा सच्चा निवासस्थान है।

देखो, यहाँ आचार्यदेव भेदज्ञान कराके जागृत करते हैं। एक क्षण भी ऐसा भेदज्ञान करे तो संसार का अंत आ जाये और अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति हो।

आचार्य भगवान करुणापूर्वक कहते हैं कि—एकत्वबुद्धि में सुप्त हे अज्ञानी जीवो! तुम जागृत होओ!... सावधान होओ! और राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को देखो। राग को ही चैतन्यपद समझकर उसमें एकत्वबुद्धि से अंध होकर अनादि से तुम सो रहे हो.. राग में ही लीन हो, परंतु शुभराग भी वास्तव में तुम्हारा पद नहीं है; राग तो अपद है—अपद है; तुम्हारा पद तो चैतन्य है। जैसे-कोई राजा अपने स्वर्ण सिंहासन को भूलकर अशुद्ध कूड़े के ढ़ेर पर अपना आसन माने तो वह पागलपन है। उसीप्रकार यह चैतन्य राजा-जगत के सर्वोत्तम पदार्थ—अपने सिंहासन को अर्थात् अपने निजपद को भूलकर अशुद्ध रागादि भावों में अपना पद मानता है, वह भ्रान्ति है—पागलपन है। इसप्रकार अनादि से रागादि को अपना पद मानकर, कर्तव्य मानकर जीव परभाव में सो रहा है; उसे राग और ज्ञान के भेदज्ञान द्वारा शुद्ध चैतन्यपद बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवो! अब तुम जागो! तुम्हारे इस चैतन्यपद को हमने राग से पृथक् बतलाया है... अब तो राग के साथ एकत्वबुद्धि छोड़कर उस चैतन्यपद का अनुभव करो।

राग में लीनता से तो अनंत काल परिभ्रमण में बिता दिया... अब तो उससे विमुख होकर इस चैतन्यपद की ओर आओ। चाहे जैसा शुभ विकल्प हो, किंतु उसके द्वारा कहीं चैतन्यपद की प्राप्ति नहीं होती। चैतन्य का स्थान विकल्प में नहीं है। राग से मुझे किंचित् लाभ होगा ऐसा माननेवाले जीव मिथ्यात्वभाव में सो रहे हैं, अंध हैं; वे अपने चैतन्यपद को नहीं देखते; अपद को ही स्वपद मानकर ही सो रहे हैं। भले ही अनेकों शास्त्र पढ़ा हो, पंच महाव्रत का पालन करता हो, परंतु स्वपद क्या है, उसकी जिसे खबर नहीं है और राग के पद से आत्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करता है, उसे आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे जीवो! इस अनंत काल की अंधता को छोड़ो। हमने तुम्हें तुम्हारा राग से अत्यंत पृथक् निजपद बतलाया है, उसे देखो.. जागो.. जागृत होकर निजपद को सँभालो!

अणुमात्र राग को आत्मा में लाभदायक मानता है, वह जीव आत्मा को रागमय ही जानता है, परन्तु चैतन्यमय नहीं जानता; इसलिये परभाव को ही आत्मा मानकर वह परभाव में सोता है.. भेदज्ञान की भेरी बजाकर आचार्यदेव उसे जागृत करते हैं... ज्ञानी जगाते हैं कि—हे जीव! तेरा आत्मा चैतन्यमय है, वह रागमय नहीं है। आत्मा के अंतरस्वभावसन्मुख होकर जो निजपद का वेदन हुआ, वह ज्ञानमय है, उसमें राग नहीं है। रागादि परभाव तो अस्थायी हैं, मलिन हैं, और तेरा चैतन्यस्वभाव तो स्थायी तथा पवित्र है—ऐसे निजभाव को तू देख और परभावों को पृथक् मान।

तेरे ज्ञान का स्वाद (अनुभव) राग से बिलकुल भिन्न प्रकार का है। राग का तथा ज्ञान का स्वाद एकमेक नहीं है। ऐसा समझकर, अरे जीव! तू अपने इस चैतन्य पद की ओर आ.. चैतन्यपद की ओर आ!—पुनः पुनः दो बार कहने में आचार्यदेव की अति करुणा है कि किसी प्रकार जीव समझे जिस प्रकार मार्ग भूले हुए मनुष्य को कोई सज्जन पुकार कर बुलाये कि हे भाई! वह मार्ग अच्छा नहीं है, तुम इस ओर आओ... तुम्हारा मार्ग यह है—यह है। उसीप्रकार राग के साथ एकत्वबुद्धि से मोक्ष का मार्ग भूल हुए जीवों को आचार्यदेव पुनः पुनः करुणापूर्वक संबोधन करके जगाते हैं कि—अरे जीवों! राग की ओर से लौटो-लौटो... वह तुम्हारा मार्ग नहीं है, वह तुम्हारा पद नहीं है.. इसलिये इस ओर आओ... इस ओर आओ.. यह शुद्ध चैतन्यपद ही तुम्हारा पद है। अहा, सन्त ऐसा अचिंत्य महिमावंत निजपद बतलाते हैं। निजपद को न देखनेवाले जीवों को अंध कहकर आचार्यदेव वह अंधता छुड़ाते हैं और निजपद दिखलाकर सच्ची दृष्टि देते हैं।

भाई, विकल्प द्वारा तेरी सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की रचना नहीं होती, विकल्प द्वारा चैतन्य की शांति का वेदन नहीं होता, विकल्प द्वारा निजपद को नहीं देखा जा सकता। इसलिये उपयोग को विकल्प से भिन्न करके दृष्टि को अंतर्मुख कर... और विकल्प से भिन्न निजपद को देख! यह निजपद चैतन्यमय है और निजरस से अत्यंत भरपूर है। अरे भगवान! तू अपने निजपद को भूलकर तथा अंध होकर राग में सो रहा है। अब हम समयसार द्वारा तुझे राग और चैतन्य की अत्यंत भिन्नता बतला रहे हैं, इसलिये भेदज्ञान करके जागृत हो! अंतर्मुख होकर अपने निजपद को देख।

अहा, शुद्ध चैतन्य का बना हुआ यह निजपद शुद्ध है—अत्यंत शुद्ध है; परद्रव्यों तथा परभावों से रहित है तथा निजरस से परिपूर्ण है।—ऐसे शुद्धबुद्ध निजपद का हे जीवो! तुम अनुभव करो।

अनादिकाल से अज्ञानभाव से राग में ही निश्चिन्त होकर सो रहा है, इतना विचार भी नहीं आता कि अरे, यह राग मेरा पद कैसे हो सकता है? राग की रुचि के समक्ष अंध होकर निजपद को भूल गये हैं। ऐसे अज्ञानियों को आचार्यदेव जगाते हैं कि जागो... भाई जागो! भेदज्ञान करके निजपद को सँभालो! सावधान होकर राग और ज्ञान को भिन्न जानो।

चैतन्य को भूलकर परभाव की चादर ओढ़कर मोह निद्रा में सो रहा है और विषयों में सुख-बुद्धिरूप स्वप्न में प्रसन्न हो रहा है। जिसप्रकार स्वप्न में दिखायी देनेवाले महल सच्चे नहीं होते, उसीप्रकार जीव बाह्य विषयों में जो सुख मानता है, वह भी स्वप्न समान ही है। रागादि भावों में तेरे

चैतन्य का अंश भी नहीं है। अरे जीव, अब तू जाग... अपने पद की महत्ता को समझ! जिसप्रकार राजा अपना राज-सिंहासन छोड़कर कूड़े के ढ़ेर पर सो जाये तो वह लज्जास्पद है; उसीप्रकार तू अनंत गुणों का चैतन्य राजा, अपने शुद्ध चैतन्य के राज सिंहासन को भूलकर परभावोंरूप कूड़े के ढ़ेर पर सो रहा है, वह शरम की बात है। ऐसी अंधबुद्धि को छोड़कर अब जागृत हो.. और परभावों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य को देख। भाई, तू तो सिद्ध भगवान समान है—

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय;
सद्गुरु आज्ञा जिन दशा, निमित्त कारण मांय।

—ऐसे निजपद को जानकर अब अनादिकालीन अज्ञानता को छोड़ो! अज्ञान के फल में निगोद का विशाल स्थान मिलेगा और तत्त्वज्ञान की आराधना का फल महान सिद्धपद है। एक क्षण भी तत्त्वज्ञान की आराधना करे तो अल्पकाल में अनंत सुख से भरपूर सिद्धपद की प्राप्ति हो। भाई, ऐसा सिद्धपद तेरे आत्मा में भरा है, वही तेरा सच्चा निजपद है; परभाव के खेल तेरे नहीं हैं। जिसमें मछली आदि जीवों की हिंसा हो, वह खेल आर्य-सज्जन मनुष्य नहीं खेलते; उसीप्रकार जिसमें चैतन्य की शांति का घात हो—ऐसा परभावों का खेल खेलना, वह हे भाई! तेरा काम नहीं है। उन परभावों में प्रसन्न होना तू छोड़ दे... भाई! एक बार तो तू अपने स्वरूप को समझ... उन परभावों से विमुख होकर इस ओर आ... इस ओर आ! तूने अपनी परिणति के वेग को परभावों की ओर मोड़ा है, वहाँ से हटाकर अन्तर स्वभाव की ओर ला!

अहा, देखो तो, संत-मुनियों ने पुकार कर जीवों को रोक दिया है कि—अरे जीवो! रुक जाओ... रुक जाओ! इन परभावों में स्वप्नों में भी तुम्हारी शांति नहीं है। शांति का धाम चैतन्य में है। जिसप्रकार हिरन मृगजल के पीछे दौड़ते हैं, उसीप्रकार तुम बाह्य विषयोंरूपी मृगजल की ओर दौड़ रहे हो। यह रागादि परभाव भी मृगजल समान हैं, इनमें कहीं शांति का झरना नहीं है। शांति का झरना तो चैतन्यधाम में है, उसमें आओ.. उसमें लौटो। अरे, ऐसे चैतन्य की पहिचान भी दुर्लभ है, फिर उसमें लीनतारूप संयमदशा तो अत्यंत दुर्लभ है। जिसको संयमदशा और मुनिदशा प्रगट हुई, उसने तो परमात्मा के घर में प्रवेश किया और सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अपने अंतर में परमात्मा का घर देख लिया। उसने निजघर में निवास किया। ऐसा निज गृह बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भाई! यह शुद्ध चैतन्यधातु है, वही तेरा पद है, वही तेरा स्थान है, उसी में निवास कर। राग तेरा पद नहीं है, तेरा स्थान नहीं है। देखो, आचार्यदेव निजगृह में अपूर्व

वास कराते हैं। जो पुण्य में—राग में निवास मानते हैं, वे तो घोर संसार में चल रहे हैं, संसार में भटक रहे हैं। आचार्यदेव प्रवचनसार गाथा ७७ में कहते हैं कि—पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है—ऐसा जो जीव नहीं मानता और मोह से पुण्य में सुख मानता है, पुण्य में धर्म मानता है, वह जीव मोह के कारण घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है। उसे यहाँ जागृत करके आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा निजपद पुण्य-पाप दोनों से रहित है, उसे तू देख। अपनी रुचि के वेग को अन्तर्मुख कर! जिसप्रकार युद्ध करते हुए राजपूत का शौर्य छिपा नहीं रहता, उसीप्रकार चिदानंद का अनुभव करनेवाले ज्ञानी का ज्ञान नहीं दिसा। जो आत्मा को साधने के लिये शूरवीर होकर जागृत हुआ, उसका उत्साह छिपता नहीं है। जहाँ आत्मा को साधने के लिये जागृत हुआ, वहाँ अनादिकालीन निद्रा क्षणमात्र में दूर हो जाती है। अहा,.. सन्तों की वाणी! कुंभकर्ण जैसों को भी निद्रा से जागृत कर देती है। (-कुंभकर्ण की निद्रा छह महीने की कही जाती है, वह तो मात्र अलंकार है; राजा रावण के भाई कुंभकर्ण तो धर्मात्मा थे और उन्होंने बड़वानी-चूलगिरि पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया है।) जीव जहाँ अन्तर्दृष्टि से जागृत हुआ, वहाँ अनंतकालीन अज्ञान क्षणमात्र में ही दूर हो जाता है। जैसे-दीर्घकाल का अंधकार, प्रकाश होते ही तत्क्षण दूर हो जाता है; उसे दूर करने के लिये कहीं बहुत समय की आवश्यकता नहीं होती, उसीप्रकार अनादिकालीन अज्ञान भी सम्यग्ज्ञान द्वारा एकक्षण में ही दूर हो जाता है—

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण जागृत थतां शमाय,
तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर थाय।

ज्ञानप्रकाश हुआ और आत्मा जागृत हुआ, वहाँ उसकी ज्ञानदशा छिपी नहीं रहती। वह अपने चैतन्यपद को अनेक प्रकार के परभावों से भिन्न ही देखता है। ऐसी स्वानुभूति हुई, वहाँ आत्मा जागृत हुआ... वह मोक्ष का साधक हुआ... वह धर्मी हुआ... उसने निजपद प्राप्त किया और निजगृह में वास किया।

अब, ऐसी सरस बात सुनकर, निजपद की प्राप्ति का जिज्ञासु शिष्य पूछेगा कि—हे प्रभो! वह कौनसा पद है ?—और आचार्यदेव ऐसे जिज्ञासु शिष्य को निजपद का स्वरूप बतलायेंगे।

★ मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रवचनों से ★

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में अनेक पक्षों से स्पष्टीकरण करके तत्त्वनिर्णय में रह जानेवाली भूल का स्वरूप समझाया है और यथार्थ तत्त्वनिर्णय कराया है; उन प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। अन्य लेखों के लिये पिछले अंक देखें।

—इस भवतरु का मूल क्या है ?

मिथ्यात्वभाव ही इस भवतरु का मूल है।

—उसे छेदने के लिये क्या करना चाहिये ?

उसे छेदने के लिये मोक्ष का उपाय करना चाहिये। प्रथम यथार्थ तत्त्व श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करने से भवतरु के मूल का छेदन हो जाता है।

—सम्यग्दर्शन कैसा है ?

सम्यग्दर्शन, वह धर्मरूपी वृक्ष का मूल है, अथवा मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है।

—जिन जीवों ने गृहीतमिथ्यात्व छोड़ दिया है किन्तु अभी अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा, वे जीव कैसे हैं ?

उन जीवों को यहाँ 'जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टि' कहा है। व्यवहार में तो वे जैनमत को ही मानते हैं, जैनमत के यथार्थ वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य किन्हीं कुदेवादि को नहीं मानते; परंतु अपने अंतर में निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ तत्त्वनिर्णय तथा अनुभव नहीं करते, इसलिये वे भी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। ऐसे जीवों को किस-किसप्रकार तत्त्वनिर्णय में सूक्ष्म भूलें रह जाती हैं, वह यहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में समझाया है।

—जो जैन है और जिन आज्ञा को मानता है, उसे मिथ्यात्व कैसे रहा ?

वह व्यवहारिक जिन आज्ञा को मानता है और कुदेवादि को नहीं मानता, परंतु अंतरस्वभाव के सम्यक् निर्णयरूप जो परमार्थ जिनाज्ञा है, वह अभी उसने नहीं जानी है; इसलिये उसे भी मिथ्यात्व रहता है।

—मिथ्यात्व कैसा है ?

मिथ्यात्वभाव जीव का अत्यंत अहित करनेवाला, महान शत्रु है, उस मिथ्यात्व शत्रु का अंश भी बुरा है और वह अत्यंत उद्यम द्वारा त्यागने योग्य है।

—जिनागम का वर्णन कैसा है ?

जिनागम का वर्णन निश्चय-व्यवहाररूप है। कहीं निश्चय की मुख्यता से कथन है और कहीं व्यवहार की मुख्यता से कथन है।

—उन निश्चय-व्यवहार के लक्षण क्या हैं ?

जो यथार्थ है, वह निश्चय है तथा जो उपचार है, वह व्यवहार है। उसमें निश्चय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये।

—व्यवहार श्रद्धान किसलिये छोड़ना ?

क्योंकि व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उसके भावों को, तथा कारण-कार्यादि को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है। जहाँ व्यवहार की मुख्यता से कथन हो, वह ऐसा समझना चाहिये कि—'वास्तव में ऐसा नहीं है, किंतु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है।'

—निश्चयनय का श्रद्धान किसलिये करना ?

क्योंकि निश्चयनय स्वद्रव्य-परद्रव्य का, उनके भावों का तथा कारण-कार्यादि का यथावत् निरूपण करता है, किसी का अंश दूसरे में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये। निश्चयनय की मुख्यता सहित कथन को 'सत्यार्थ ऐसा ही है'—ऐसा समझना चाहिये।

श्री टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का यह महान लक्षण बांधा है, वह सर्व शास्त्रों के अर्थ सुलझाने में अत्यंत उपयोगी है।

—निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जीव क्या भूल करते हैं ?

अपनी पर्याय में राग-द्वेष-अशुद्धि का प्रत्यक्ष वेदन होने पर भी, पर्याय में अपने को सिद्ध समान मानते हैं; परंतु पर्याय अपेक्षा से संसारी जीव कहीं सिद्ध समान नहीं हैं। अपने में अशुद्धता होने पर भी उसे न जाने और भ्रम से अपने को सिद्ध समान मानकर वर्तन करे तो फिर देव-गुरु की विनय करना या मोक्ष का साधन करना कहाँ रहा ?—मिथ्यात्व ही हुआ। इसलिये अज्ञानी जीव

पर्याय का विवेक भूलकर, अपने को सिद्धसमान मानकर वर्तता है, वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जीव की भ्रमणा है।

—शास्त्रों में भी आत्मा को सिद्धसमान तो कहा ही है। 'सिद्धसमान सदा पद मेरा'—ऐसा तो कहा है न ?

शास्त्रों में आत्मा को सिद्धसमान कहा है, वह तो द्रव्यदृष्टि से कहा है, कहीं पर्याय अपेक्षा से सर्व जीवों को सिद्धसमान नहीं कहा। जिसप्रकार मनुष्यरूप से राजा या रंक सब समान होने पर भी, जो अवस्था में रंक हैं, वे कहीं राजा नहीं हैं; उसीप्रकार सिद्ध या संसारी सर्व जीव समान नहीं हैं। जिनकी पर्याय में अशुद्धता है, उनको सिद्धत्व प्रगट नहीं है। सिद्ध तथा संसार पर्याय—दोनों समान हैं—ऐसा मानना, सो भ्रम है।

—सर्व जीव किसप्रकार सिद्धसमान हैं ? और किसप्रकार सिद्धसमान नहीं हैं ?

जीव के द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से सर्व जीव सिद्धसमान हैं, परंतु पर्याय अपेक्षा से सर्व जीव समान नहीं हैं। संसारी होते हुए पर्याय में भी अपने को सिद्धसमान मानना, वह भ्रम है। यदि पर्याय से भी सिद्धसमान हो गया हो तो फिर मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना कहाँ रहा ? जो जीव पर्याय से भी अपने को सिद्धसमान ही माने, वह मोक्ष का उद्यम क्यों करेगा ? ऐसा निश्चयाभासी जीव शुष्क और प्रमादी हो जाता है।

—जीव की अवस्था में केवलज्ञान की शक्ति प्रगट है, परंतु वह कर्म के कारण ढंक गई है—यह बात ठीक है ?

नहीं; जीव के स्वभाव में शक्तिरूप से केवलज्ञान है, परंतु अवस्था में इस समय वह प्रगट नहीं है। अवस्था में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधन प्रगट करे, तभी केवलज्ञान प्रगट होता है। पर्याय में केवलज्ञान प्रगट हो और केवलज्ञानावरण कर्म उसे आवृत्त कर ले, ऐसा नहीं होता। केवलज्ञानावरण कर्म का क्षय करके केवलज्ञान होता है। यदि वर्तमान में केवलज्ञान प्रगट हो तो लोकालोक को क्यों न जाने ? जिस केवलज्ञान को वज्रपटल भी नहीं रोक सकता, उसे लोकालोक जानने में कर्मरजकण कैसे बाधक होंगे ? इसलिये निचली दशा में केवलज्ञान प्रगटरूप नहीं है परन्तु स्वभाव की शक्तिरूप हे। इसलिये यह मानना भ्रम है कि—'निचली दशा में केवलज्ञान प्रगटरूप तो है, किंतु कर्म उसे ढँक रहे हैं।' जिसप्रकार निचली दशा में अशुद्धता होने पर भी अपने को पर्याय से सिद्ध मानना वह भ्रम है, उसमें द्रव्य की पर्यायसंबंधी भूल है, उसीप्रकार अज्ञानदशा

में भी अपने को केवलज्ञान का सद्भाव मानना, सो गुण की पर्यायसंबंधी भूल है। हाँ, इतना अवश्य है कि उपयोग को अंतर्मुख करके स्वभाव सामर्थ्य से अपने को सिद्धसमान प्रतीति में ले तो ऐसी प्रतीति होने से अपने में केवलज्ञान प्रगट होने की जो सामर्थ्य है—वह भी अनुभव में आती है। परंतु ऐसी प्रतीति होने पर भी साधक धर्मात्मा पर्याय में तो अपने को पामर समझता है कि अरे, कहाँ केवलज्ञान की अगाध अचिंत्य शक्ति और कहाँ मेरी अल्पता!!

—केवलज्ञान तो प्रगट है, परंतु कर्म के आवरण से ढँका है—ऐसा मानने में क्या दोष है?

ऐसा मानने में निमित्ताधीन दृष्टि है। उपादान के अपराध से ही केवलज्ञान अटक रहा है, उसके बदले कर्म के निमित्त से अटक रहा है—ऐसा जिसने माना और उपादान का जो अपराध है, उसे न जाना, उसकी दृष्टि विपरीत है। केवलज्ञान तो प्रगट है किंतु कर्म ने उसकी शक्ति को रोक रखा है, इसलिये जीव का तो कोई अपराध है नहीं, जो है वह कर्म का ही अपराध है—ऐसा मानना, वह भ्रम है। उसे द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं है। केवलज्ञान की ऐसी अतीन्द्रिय शक्ति है कि चाहे जैसे आवरण हों, तथापि पदार्थ को प्रत्यक्ष जानता है। जिस केवलज्ञान को वज्रपटल समान मोटी परतें नहीं रोक सकतीं, उसे कर्म की पतली परतें क्या रोकेंगी? इसलिये, जिसप्रकार बादलों के पीछे सूर्य प्रगट है; उसीप्रकार कहीं कर्म पटल के नीचे केवलज्ञान नहीं है।

—केवलज्ञान कौन-सा भाव है?

केवलज्ञान तो क्षायिकभाव है। सम्यग्दर्शनादि महाप्रयत्न द्वारा घातिकर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है, इसलिये वह क्षायिकभावरूप है। यदि पर्याय में केवलज्ञान पहले से (अनादिकाल से) प्रगट हो तो उसे पारिणामिकभावरूप कहना चाहिये। ज्ञानगुण पारिणामिक भावरूप है किन्तु केवलज्ञान पर्याय तो क्षायिकभावरूप है, वह सादि-अनंत है।

मैं अपने स्वभाव में अंतर्मुख एकाग्र होऊँ तो केवलज्ञान हो—ऐसा ज्ञानी जानता है; और अज्ञानी ऐसा मानता है कि कर्म ने केवलज्ञान को रोका, इसलिये कर्म हटे तो केवलज्ञान हो; मेरी पर्याय में तो कोई अपराध है ही नहीं—यह उसका महान भ्रम है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को ज्यों का त्यों बराबर जाने, गुण को गुण जाने; दोष को दोष जाने, तो स्वभाव साधन द्वारा गुण प्रगट करके दोष टालने का उद्यम करे; परंतु जो अपनी पर्याय के दोष को जानता ही नहीं, वह उसे दूर करने का उद्यम कहाँ से करेगा? और स्वभाव के गुण को न जाने तो वह गुण कहाँ से प्रगट करेगा? अपने

गुण को बाह्य में ढूँढ़ने जाये तब तो मिथ्यात्व ही रहेगा।

—आत्मा की पर्याय में केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञानावरण कर्म उसे ढँक लेता है—यह बात बराबर है ?

नहीं; आत्मा की पर्याय में केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञानावरण ने उसे आच्छादित किया है—ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा की शक्ति में जो केवलज्ञान है, वह पर्याय में प्रगट नहीं है; उस केवलज्ञान को प्रगट न होने देने में निमित्तरूप केवलज्ञानावरण कर्म है। जैसे पानी का स्वभाव शीतल कहा जाता है, परंतु जब वह अग्नि के निमित्त से उष्ण हुआ है, तब कहीं उसकी अवस्था शीतलता नहीं है; उसीप्रकार केवलज्ञान, वह जीव का स्वभाव है—ऐसा स्वभाव सामर्थ्य की अपेक्षा कहा जाता है, परंतु कहीं अल्पज्ञता के समय केवलज्ञान प्रगट नहीं है। यदि केवलज्ञान प्रगट हो तो केवलज्ञानावरण कर्म रह ही नहीं सकता।

—अल्पज्ञता होने पर भी अपने को केवलज्ञानी माने तो क्या आपत्ति है ?

जैसे—पानी उष्ण होने पर भी कोई उसे ठण्डा मानकर पीने लगे तो क्या होगा ?—उसे जलना ही पड़ेगा। उसीप्रकार अपनी पर्याय में अशुद्धता होने पर भी, केवलज्ञानी मानकर अनुभव करने जाये तो वह दुःखी ही होगा। उस जीव ने केवलज्ञान का सच्चा स्वरूप जाना ही नहीं। यदि केवलज्ञान का स्वरूप जाने तो अज्ञान में तथा अल्पज्ञता में अपने को केवलज्ञान न माने।

—जीव को केवलज्ञान प्रगट तो नहीं है, तथापि उस केवलज्ञान को आवृत करनेवाला कर्म (केवलज्ञानावरणीय कर्म) क्यों कहा ? जो वस्तु हो, उस पर आवरण कहा जाता है, परंतु जो वस्तु ही न हो, उस पर आवरण कैसा ?

चैतन्य शक्ति में केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है। किंतु उस केवलज्ञान को प्रगट नहीं होने देता, इस अपेक्षा से उसे केवलज्ञानावरणीय कर्म कहा है। तथापि जो त्रैकालिक शक्ति है, उस पर कहीं आवरण नहीं है, तथा जो ज्ञान प्रगट है, उस पर भी आवरण नहीं है; परंतु जो शक्ति है, उस शक्ति का व्यक्त परिणमन न होने दे, उसे आवरण कहा जाता है। ज्ञानगुण में केवलज्ञान होने की शक्ति होने पर भी वह केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, इसलिए उसमें निमित्तरूप कर्म को केवलज्ञानावरणीय कर्म कहा। शक्ति को आवरण कैसा ? तथा जो व्यक्त है, उसे भी आवरण कैसा ? शक्ति में पूर्ण होने पर भी पर्याय में जितना व्यक्त नहीं है, उतना आवरण है। पर्याय में अल्प व्यक्त हो तो उससे कहीं शक्ति में अल्प नहीं हो जाता। धर्मात्मा को पर्याय में अल्पज्ञान व्यक्त हो,

तथापि उसके पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति वर्तती है और उस स्वभाव के अवलम्बन से पूर्णता की ओर का पुरुषार्थ भी वर्तता है। और अज्ञानी तो—पर्याय में केवलज्ञान व्यक्त है, परंतु कर्म ने उसे आवृत कर लिया है—ऐसा मानकर पुरुषार्थ हीनता में स्वच्छंदरूप से वर्तता है। ऐसे निश्चयाभासी को मिथ्यादृष्टि ही जानता।

—हम भी परमात्मा हैं, क्योंकि सर्व आत्मा परमात्मा हैं—ऐसा कोई कहे तो क्या आपत्ति है ?

आतमा शक्तिरूप से परमात्मा है—यह बात सच है, परंतु जिसे ऐसी परमात्मशक्ति की प्रतीति हुई हो, उसे अपनी पर्याय का कितना विवेक होता है ?—वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष होते हों, तथापि अपने को पर्याय से परमात्मा मानकर प्रवर्तन करे तो उसमें परमात्मा की आसातना होती है; उसने परमात्मशक्ति को भी वास्तव में नहीं जाना है। जो परमात्मशक्ति को जाने, वह इसप्रकार स्वच्छंद से नहीं वर्तता, तथा जिसके परमात्मशक्ति प्रगट हुई हो, वह कहीं दूसरों से कहने नहीं जाता कि मैं परमात्मा हूँ।

—रागद्वेष होने पर भी हम तो आत्मा को शुद्ध ही अनुभव करते हैं क्योंकि राग-द्वेष तो जड़ का कार्य है।

अरे भाई! यह रागद्वेष होते हैं, वे किसके अस्तित्व में होते हैं ? तेरे अपने ही अस्तित्व में होते हैं या किसी अन्य द्रव्य में होते हैं ? वे रागादिभाव कहीं शरीर में नहीं होते; कर्म भी अचेतन है, उसमें कहीं यह भाव नहीं होते; वे रागादिभाव तो चैतन्य की युक्तता पूर्वक जीव की अवस्था में ही होते हैं और वह कार्य जीव का ही है। इसलिये अपनी पर्याय में रागद्वेष होने पर भी ऐसा मानना कि रागद्वेष होते ही नहीं—वह तो भ्रम है। ज्ञानी चिदानंदस्वभाव में लीन हों, उतने अंश में उसके रागादि होते ही नहीं, तथा उतने अंश में वह अपनी शुद्धता का अनुभव करता है और पर्याय में जितने रागादि होते हैं, उतनी अशुद्धता भी है—वह जानता है।

क्या व्यवहाररत्नत्रय सच्चा मोक्षमार्ग है ?

श्री पंडित गेंदालाल शास्त्री, बूंदी

(गतांक नं० २४२ से आगे)

इसमें निश्चय सम्यग्दर्शन की परिभाषा दी है, जो छहढाला में पंडित दौलतरामजी ने दी है 'पर द्रव्यनितैं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।' ३ ढाल, पृष्ठ २।

चरणानुयोग के ग्रंथरूप पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निश्चय रत्नत्रय का लक्षण लिखा है कि—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुतः एतेभ्यो भवति बंधः ॥२१६॥

अर्थ—वही छहढाला के अनुसार ही है 'आत्म रुचि निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान और आत्मस्थिरता निश्चयसम्यक्चारित्र है, ये आत्मा की शुद्ध पर्यायें हैं। इन्हीं से बंध केसे हो सकता है? इनसे तो संवर-निर्जरा ही होती है। क्या श्लोक में कथित यह निश्चयरत्नत्रय केवली प्रभु के ही होता है औरों के नहीं? इसमें शास्त्र प्रमाण दिखाना चाहिये कि छठे तक तथा बारहवें तक केवल व्यवहाररत्नत्रय से ही संवर निर्जरा होती है। शुद्ध आत्मपरिणति मोक्षमार्ग में व्यवहार है, इसके लिये भी आगम प्रमाण देना चाहिये। जब हमारे बन्धु निश्चय माने शुद्ध आत्मा और रत्नत्रय माने उसकी शुद्ध परिणति, ऐसा लिखते हैं, तब चौथे गुणस्थान से असंख्य गुणश्रेणी निर्जरा जिससे प्रारम्भ हो जाती है, वह आत्मा की शुद्ध परिणति कैसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप नहीं मानी जानी चाहिये?

आगम में शुभोपयोग को जो व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप तथा रागरूप है, स्पष्ट बन्ध का कारण कहा है कि—

रतो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेशो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

अर्थात् शुभाशुभरागवाला जीव कर्मों का बंध करता है और विरागी जीव कर्मों से छूटता है, यह श्री जिन भगवान का उपदेश है। अतः कर्मों में रंजित मत होओ। इसमें स्पष्ट है कि बिना निश्चल वीतराग परिणति के शुभोपयोगरूप पुण्य राग से यह जीव कभी मुक्ति नहीं पा सकता है। बहुत से महाशय तर्क करते हैं कि एक ही शुभोपयोगरूप पुण्य से बंध और संवर निर्जरा दोनों होते

हैं, वे प्रमाण सर्वार्थसिद्धि का उपस्थित करते हैं 'तपसा निर्जरा च॥ अ०९ सूत्र ३॥ **ननु तपोऽभ्युदयांगमिष्ट देवेन्द्रादि स्थान प्राप्ति हेतुत्वाभ्युपगमात्, कथं निर्जरांग स्यात् इति नैष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत। यथाग्निरेकोऽपि क्लेदन भस्मांगारादि प्रयोजन उपलभ्यते, तथा तपोऽभ्युदय कर्म क्षय हेतु रित्यत्र को विरोधः।** यहाँ प्रश्न है कि तप देवेन्द्रादि के अभ्युदय का कारण है, उसे निर्जरा का कारण कैसे कहते हो ? उत्तर में कहते हैं कि एक कारण से अनेक कार्य की सिद्धि देखी जाती है। जैसे एक ही अग्नि से भस्म अंगारादि प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस प्रमाण से हमारे बन्धु कहते हैं कि बंध और संवर-निर्जरा का कारण एक ही सिद्ध होता है। सो जरा शास्त्रों के अर्थ की पूर्वापर संगति मिलाकर केवल अमिधा शक्ति से ही अर्थ नहीं लगा कर व्यंजना और लक्षणा शक्ति का भी उपयोग किया जाये तो कुछ भी विरोध दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। इसी सर्वार्थसिद्धि में 'आश्रव निरोधः संवरः' इस सूत्र से संवर को आश्रव का विरोधी बतलाया है और बिना संवर के कोरे तप से निर्जरा भी नहीं होती है। जरा नियमसार खोलकर जिज्ञासु बंधु देखें कि निश्चय प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान और निश्चय तप तथा निश्चय चारित्र ये केवली भगवान के ही होते हैं या निचली भूमिका में भी हो सकते हैं। 'सम्यक्त्वं च' सूत्र का अर्थ अभिधा शक्ति से सम्यग्दर्शन वैमानिक देवायु का कारण है। सो क्या वास्तव में सम्यग्दर्शन निर्जरा का कारण है या बंध का ? लक्षण दृष्टि से देखो तो कोई भी राग हो; चाहे सम्यग्दृष्टि की भूमिका का शुभराग हो-बंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण जरा भी नहीं है, यह नियम है। श्री पूज्यपादस्वामी लिखते हैं—आस्रव-बंध ये संसार के कारण हैं और संवर-निर्जरा मोक्ष के। सो यदि संसार के कारण आस्रव-बंध से ही मोक्ष होने लग जावे तो फिर संवर-निर्जरा की क्या आवश्यकता रहेगी ? जैसे कंकर सहित गेहूँ को भी लोक में गेहूँ कहते हैं, वैसे ही तप के साथ के प्रशस्त राग को भी शास्त्रों में निर्जरा का कारण कह दिया है।

वास्तव में वीतरागरूप तप में न्यूनता रह जाने से उसके साथ के राग से स्वर्ग के देवेन्द्रादि पदों की प्राप्ति हो जाती है, उसी को वीतरागरूप तप का फल मानकर आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा को एक ही रूप बतलाना भूल है।

आचार्यों के प्रमाण देखिये—

रत्नत्रयमिहहेतु निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आश्रवति यत्तु पुण्य, शेभोपयोगोऽयमपराधः॥२२०॥

अर्थात्—शुद्ध रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है, यह अपराध केवल शुभोपयोग का ही है (रत्नत्रय का नहीं)। अब विचारिये कि क्या केवल शुद्ध वीतराग तप से स्वर्गादि की प्राप्ति हो सकती है ? जो कि राग का फल है। जो लोग बारहवें गुणस्थान तक केवल व्यवहाररत्नत्रय मानते हैं। उनके लिये श्री अमृतचंद्र महाराज कैसा सुंदर लिखते हैं।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥

अर्थ—मुनीश्वर, अज्ञानी जीवों को ज्ञान कराने के लिये व्यवहार का उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार को ही जानते हैं, उनके लिये उपदेश नहीं है। यहाँ आचार्यदेव स्पष्ट लिख रहे हैं कि व्यवहारनय अज्ञानी जीवों को परमार्थ वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराने के लिये ही है, जो निश्चय को छोड़कर केवल व्यवहार को ही पकड़ लेते हैं, उस एकांती हठग्राही लोगों को जैनधर्म का उपदेश अकिंचित्कर है। ऐसे लोगों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे होगी जो जैनधर्म के उपदेश के भी पात्र नहीं हैं ? क्या बारहवें गुणस्थान के वीतरागी क्षपक आत्मध्यानी मुनि अज्ञानी हैं ? जो उनको समझाने के लिये उन्हें (ध्यानस्थों को) व्यवहार का उपदेश दिया जा रहा है। क्या बारहवें गुणस्थान की पूर्ण वीतरागता निश्चय नहीं है ? यदि नहीं तो इसमें आगम प्रमाण दीजिये। श्लोक में तो अबुद्ध शब्द ही सिद्ध करना है कि जिन्हें भेदविज्ञान नहीं है, उनको एकत्व विभक्त आत्मा का व्यवहार से ज्ञान कराते हैं। जिसका उदाहरण पंडित टोडरमलजी सा० ने मोक्षमार्गप्रकाशक में दिया है। 'कोई ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को नहीं जानता, उसे कहते हैं कि व्यवहार से 'यह मनुष्य है सो जीव है' लेकिन इस उपदेश से जो मनुष्य के हाड़ चाममय शरीर को ही जीव मान ले और अपने निश्चय ज्ञानानंदस्वरूप को न जाने, ऐसा केवल व्यवहारी, मोक्षमार्ग का उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है।'

जिस निश्चय ज्ञानस्वभाव को जाने बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता, उसको सातवें-दशवें-बारहवें गुणस्थान तक नहीं होने की कल्पना करते हैं और वहाँ तक केवल बंधरूप व्यवहार धर्म को ही कहते हैं और वहाँ तक केवल बंध के कारण से संवर-निर्जरा भी मानना उपहासास्पद साहस है। तीन काल में एक परम निरपेक्ष वीतरागतारूप ही परम धर्म है। अनंत सिद्ध इसी मार्ग से हुए हैं और भविष्य में भी इसी निश्चयधर्म से होंगे। इससे विरुद्ध राग से कभी नहीं होंगे।

जैन सिद्धान्त में सम्यक् अनेकांतवाद (स्याद्वाद) का बड़ा भारी महत्व है, लेकिन उस स्याद्वाद के बहाने कई नयाभास को ही स्याद्वाद मान बैठते हैं।

आचार्यों ने शास्त्रों में जीवों की तीन प्रकार की परिणतियाँ कही हैं। १—अशुभ, २—शुभ और ३—शुद्ध। जैसा कविवर भागचंदजी ने लिखा है।

'तामैं शुभ अशुभ अन्ध दोय करें कर्म बन्ध, वीतराग परिणति ही भवसमुद्र तरणी' सब जगह मोक्षमार्ग में एक शुद्ध वीतराग परिणति को ही बंध विनाशक कहा है। शुभ और अशुभ ये दोनों परिणतियाँ तो सुवर्ण और लोह की बेड़ी के समान केवल बंध साधक ही हैं। जहाँ शुभ को शुद्ध का साधन कहा है, वह व्यवहार (उपचार) से ही कहा है, वास्तविक रूप से नहीं। जैसे केवल भूसा कूटने से चावल प्राप्त नहीं हो सकते हैं, वैसे ही बिना अपने निश्चय शुद्धस्वभाव को समझे केवल व्यवहाररत्नत्रय से मोक्ष प्राप्त करना चाहे तो असंभव है। मोक्षमार्ग में शुद्ध को निश्चय और शुभ को व्यवहार कहा है। शुभ वास्तव में बंध साधक होने पर भी भूमिकानुसार शुद्ध का सहचर होने से उपचरित मोक्षमार्ग कहलाता है।

जैसे किसी सती स्त्री को जंगल में डाकू मिल जायें और उस को लूट लें, उसके पति आदि को मार डालें, अंत में उस स्त्री के शील धर्म को बिगाड़ने पर उतारू हों जायें, तो भी वह सती स्त्री कहती है कि भाई! तुमने जो कुछ किया सो तो ठीक है, यदि अब तुम मेरे शील धर्म की रक्षा कर दो तो तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगी। यहाँ धन कुटुम्बादि के वियोग से यह स्त्री यद्यपि अति ही दु:खी है, लेकिन अपने शील धर्म के बचाने से उन विरोधी डाकुओं को भी उपकारी कह रही है।

वैसे ही साधक वीतराग परिणति को लूटनेवाली शुभपरिणति को धारण करता हुआ वास्तव में तो दु:खी है, लेकिन वह शुभपरिणति पूर्ण वीतराग शुद्धस्वभाव की विरोधी (लूटनेवाली) होकर भी अपनी अपनी भूमिकानुसार होनेवाली आत्मशुद्धि की विरोधी नहीं है, इसलिये डाकुओं की कुछ रियायत करने की प्रसन्नता के समान इस शुभपरिणति को भी काम निकालने के लिये धर्म (मोक्षमार्ग) कह देते हैं। लक्षण दृष्टि से देखो शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है।

कोई यह कहते हैं कि 'व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय की दृष्टि से अभूतार्थ है, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से तो भूतार्थ ही है।' सो इस वाक्य से ये भाई साहब न जाने क्या सिद्ध करना चाहते हैं? यह कौन कहता है कि व्यवहाररत्नत्रय खर विषाण की तरह नहीं है, और यह भी कोई नहीं कहता कि निश्चय रत्नत्रय के साथ साधक अवस्था में वह सर्वथा नहीं होता।

शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय अवश्य है और जब तक शुद्ध पूर्ण वीतराग-परिणति नहीं हुई, तब तक साधक के अवश्य रहता है। लेकिन क्या इससे सच्चा मोक्षमार्ग हो गया?

क्या दूल्हे के साथ जाने से नाई भी दूल्हा हो गया ?

जैसे राजा की शैय्या पर उसका राजकुमार ही शयन कर सकता है, दूसरा ऐरा-गैरा दास आदि नहीं; वैसे ही चेतन राजा के साथ उससे अभिन्न रहनेवाली और अनंत काल तक उसका साथ देनेवाली ऐसी शुद्ध निश्चयरत्नत्रय की परिणति ही मोक्षमार्ग का स्थान पा सकती है, ये रागरूप व्यवहाररत्नत्रय की परिणतियाँ तो बाहर से ही बगलें झाँकती रहती हैं, और न मोक्ष महल में इनको प्रवेश करने का रंचमात्र भी अधिकार है। वास्तव में व्यवहाररत्नत्रय उन-उन भूमिकाओं में रहनेवाला रागरूप परिणाम ही है, जो वीतराग का निश्चय ज्ञानधारा का विरोधी ही है। यह बात सर्व आगम सम्मत हे। भगवान पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं।

'संवृतस्य बंधाभावात् तत्प्रत्यनीक प्रतिपत्यर्थम् तदनन्तर संवरवचनम्' अर्थात् संवरधारी के बंध के अभाव होने से, संवर का विरोधी होने से, बंध के पश्चात् संवर को सूत्र में रखा है। इससे सिद्ध हो गया कि संवर-निर्जरा जो मोक्ष के कारण हैं, उनके विरोधी आस्रव-बंध नियम से संसार के ही कारण हैं।

जब तक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होवे, तब तक संवर-निर्जरा असंभव है। जो महानुभाव दसवें गुणस्थान तक केवल व्यवहाररत्नत्रय ही बताते हैं, निचले गुणस्थानों में निश्चयरत्नत्रय रंचमात्र भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। सो क्या रागरूप बंध साधक व्यवहाररत्नत्रय से संवर, निर्जरारूप निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति हो सकती है ? क्या लोहे से सोने का कंकण बन सकता है ? क्या प्रतिज्ञा करने से लोहा को सुवर्ण माना जाता है ?

प्रवचनसार में ग्यारहवीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं—

'यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीक-शक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। तदा तु धर्म परिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारि चारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषों दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबंध-मवाप्नोति। अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगोहेयः।'

अर्थात् जब यह आत्मा धर्म परिणत स्वभाव, शुभोपयोगविरुद्ध शुद्धोपयोग परिणति के कारण मोक्ष प्राप्तिरूप अपना कार्य करने में समर्थ चारित्रवाला होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है, और जब वह धर्म परिणति स्वभाववाला (निश्चय आंशिक धर्मवाला) होने पर भी

शुभोपयोगपरिणति के (व्यवहाररत्नत्रय के) साथ रहता है, तब (रागरूप) विरोधीशक्तिसहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्यकारि चारित्र युक्त होने से, जैसे अग्नि से तप्त घी से जला हुआ पुरुष दाह से दु:खी होता है, वैसे ही स्वर्ग के सुख बंधरूप क्लेश को प्राप्त होता है। इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है। इस टीका में आचार्यदेव ने जैसे घी यद्यपि ठण्डा और पुष्टिकर है लेकिन अग्नि की संगति से दाहकारक हो जाता है, वैसे ही आत्मा की शुद्धपरिणतिरूप निश्चयरत्नत्रय घी के समान शांतस्वरूप मोक्ष का ही कारण है लेकिन अग्निवत् रागरूप रत्नत्रय उसका सहचर होने से उपचार से घी की तरह उसे भी स्वर्ग सुख के दाह का कारण कह देते हैं।

इससे सिद्ध हुआ सम्यग्दृष्टि का शुभराग भी बंध का कारण है। यह बात टीका के **यदा तु परिणत स्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते** इस वाक्य से शुभोपयोगी के साथ में निश्चय धर्म परिणत स्वभाव भी रहता है, यह सिद्ध हो गया। सारांश, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का तथा तत्त्वार्थ का रागमिश्रित श्रद्धान, अंग पूर्वों का रागरूप ज्ञान और षट्काय जीवों की रक्षारूप चारित्र, ये तीनों व्यवहाररत्नत्रय तो वास्तव में आत्मा के चारित्रगुण की रागरूप पर्यायें ही हैं, क्योंकि राग पर्याय पराश्रित होने से वह आत्मा में अभेदरूप से परिणमित नहीं हो सकती है। यद्यपि व्यवहाररत्नत्रय शुभ परिणतिरूप है, लेकिन उस शुभराग से वीतराग-विज्ञानमय मोक्ष प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है। प्रवचनसार की छठी गाथा की टीका में आचार्यदेव लिखते हैं। '**संपद्यतेहि दर्शनज्ञान-प्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव सरागाद्देवासुर मनुजराज विभवक्लेशरूपी बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वात् वीतरागचारित्रं, उपादेयमनिष्टफलत्वात्सराग चारित्रं हेयं।**' अर्थात् दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र, यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष होता है। अत: उपादेय है। और उसी सराग चारित्र से तो सुर, असुरेनद्र, नरेन्द्र आदि के वैभव क्लेशरूप बंध की प्राप्ति होती है। अत: हेय है।

इसलिये मुमुक्षुओं को इष्ट फलवाला होने से वीतराग चारित्र ही ग्राह्य है, और अनिष्ट फलवाला होने से सराग चारित्र हेय है। इस में श्री अमृतचंद्र महाराज ने स्पष्ट शब्दों में सराग (व्यवहार) चारित्र को बंध साधक अनिष्ट फलवाला कहा है। जो महानुभाव रागरूप-व्यवहाररत्नत्रय को सच्चा मोक्षमार्ग कह करके आगम के भाव को तोड़-मरोड़ कर अनेकांतवादी बनना चाहते हैं, उन्हें भगवान कुन्दकुन्दस्वामी के शुद्ध वीतरागपूर्ण भावों की रक्षा करके हम अल्प ज्ञानियों पर दया करनी चाहिये। *(क्रमश:)*

अध्यात्म संदेश

पूज्य स्वामीजी द्वारा यह परमात्मप्रकाश का प्रवचन है; इसमें मुमुक्षु को चैतन्य के चिंतन का उपदेश देते हुए कहते हैं कि : अरे! संसार में कितना दुःख है ? कितनी अशांति है ? इसमें से तुझे बाहर आना हो तो, हे जीव! संतगुण तुझे यह मंत्र देते हैं कि तेरा आत्मा शुद्ध परमात्मा है, उसकी रुचि करके उसी की लगन लगा। जगत में सुख यदि कहीं पर भी हो तो वह अपने शुद्धात्मा में ही है। अहा, चैतन्यरत्न के इस अचिंत्य प्रभाव को रत्नत्रय ही झेल सकता है, राग उसको झेल नहीं सकता।

(लेखक : ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

यहाँ मोक्षार्थी को क्या उपदेश है, कैसे स्वभाव का उसे चिंतन करना चाहिए—यह समझाते हैं। हे जीव! ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त जो कोई दूसरे परभाव हैं, उन सबको छोड़कर, अपने शुद्धात्मस्वभाव का ही तू चिंतन कर। आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणों की राशि है, चैतन्यपुंज है, उसके गुण कदापि उससे जुदे नहीं होते। किंतु जो रागादि परभाव हैं, वह तो कुछ तेरे स्वभाव की चीज नहीं है, वह स्वभाव में से उत्पन्न होनेवाले भाव नहीं हैं, किंतु परलक्ष से उतपन्न होनेवाले परभाव हैं; उन सबके सब परभावों को तू छोड़। प्रथम ही 'मैं ज्ञानमय हूँ और ये परभाव हैं, सो मैं नहीं' ऐसी श्रद्धा के द्वारा व ज्ञान के द्वारा उनको छोड़ अर्थात् अलग समझ; बाद में उसी ज्ञानमय स्वभाव को ही उपादेय करके ध्यान में ध्या, उसमें एकाग्र होके उसका चिंतन करने से चारित्रदशा हो जायेगी और समस्त परभाव छूट जायेगा।

यहाँ पर भेदज्ञान के लिए नियम दिखाया है कि विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव से विरुद्ध जो कोई भाव है, उन सबको जीव के स्वभाव से जुदे समझो। 'मैं तो शुद्ध चिन्मय भाव ही हूँ, इसके सिवाय बंध के हेतुभूत जो रागादि भाव है, वह मैं नहीं।'—ऐसे भेदज्ञान के सिद्धांत का जो सेवन करता है, वही सच्चा मुमुक्षु है। चैतन्य की भूमिका में से तो आनंद के फवारे उछलते हैं। चैतन्य की भूमि में से राग के अंकुरे नहीं निकलते! राग तो आस्रवतत्त्व है, और मोक्षमार्ग संवर-निर्जरारूप है, आस्रव-तत्त्व में से संवर-निर्जरा कैसे आयेगा? चैतन्यस्वभाव को उपादेय करने से संवर-निर्जरा व मोक्षतत्त्व प्रगट होते हैं, और आस्रव-बंध व पुण्य-पाप नष्ट होते हैं, इसलिये स्वभाव के अवलम्बन से जिनका नाश होता है, वह मेरा स्वभाव नहीं और इसलिये वह परभाव मेरे आदरणीय नहीं। मुझे श्रद्धान में, ज्ञान में, ध्यान में सर्वत्र मेरा एक ज्ञानस्वभाव ही आदरणीय है। इसके विरुद्ध और किसी

भाव को जो आदरणीय समझे, उसको शुद्धात्मा का ध्यान या सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व की रीति यह है कि ऐसे शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याके प्रतीति में लेना। इसके बाद सम्यक्चारित्र की रीति भी यही है कि ऐसे शुद्धात्मा को उपयोग में लाकर उसी में स्थिर होना। अभेद रत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग, उसमें यह शुद्धात्मा ही उपादेय है। राग को उपादेय करके मोक्षमार्ग कोई जीव पालें, ऐसा नहीं बन सकता। अनंत चतुष्टयरूप जो अरिहंत दशा, वह 'कार्यसमयसार' है, और उसके साधक जो अभेद रत्नत्रय वह 'कारणसमयसार' है। इस तरह केवलज्ञानरूप शुद्ध कार्य का कारण तो शुद्ध अभेद रत्नत्रय ही है। दूसरा कोई उसका कारण नहीं है।

अहा! चैतन्य का अचिंत्य प्रभाव है—इस चैतन्यरत्न के अचिंत्य प्रभाव को अभेद रत्नत्रय ही झेल सकते हैं; चैतन्य के अचिंत्य प्रभाव को राग झेल नहीं सकता, राग से वह अनुभव में नहीं आता। अतएव संत कहते हैं कि हे भव्य! तू तो जगतप्रकाशी ज्ञानसूर्य है; तेरे प्रताप में अंधेरा कैसा? प्रकश के पुंज में अंधकार कैसा? वैसे ज्ञानपुंज में अज्ञान कैसा? और विकार कैसा? सर्व परभावों से रहित ऐसे शुद्ध चैतन्यपुंज को पहचान के उसे ही ध्यान में चिंतव। आत्मचिंतनरूप शुद्धोपयोग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समा जाते हैं, और वह अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। ध्यान के द्वारा जो ऐसे आत्मा को उपादेय करे, उसे ही मोक्षमार्ग होता है; इसके सिवाय अन्यत्र शोधन से मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता।

अरे जीव! अपना स्वभाव तो देख! जिसका नाम लेने से भी आनंद हो, उसके अनुभव की तो क्या बात! ऐसे महिमावंत तेरे स्वभाव को तू क्यों भूल गया? तेरे चैतन्यरत्न को तू क्यों मिट्टी में मिला रहा है? चैतन्यरत्न को संसार की कीच में क्यों फेंक रहा है? एक बार शुद्धदृष्टि से तेरे भिन्न निर्मल चैतन्यरत्न को देख, तो उस चैतन्यरत्न में से मोक्षमार्ग की किरण प्रकाशमान होगी; विकाररूप मैल उस चैतन्यरत्न के भीतरी भाग में प्रविष्ट नहीं हो गया है।

अतीन्द्रिय आनंद के साथ तन्मय ऐसे आत्मस्वभाव को जिसने उपादेय किया है, वही सम्यग्दृष्टि है; कैसा वह सम्यग्दृष्टि? जो अपने से ही अपने को जानता है। आत्मा, आत्मा से ही जाना जाता है (स्वानुभव प्रत्यक्ष है) और किसी से वह जानने में नहीं आता। अंतर्मुख होकर जिसने शुद्धात्मा को उपादेय किया, वह जीव नियम से निकट भव्य है। भैया! तू पहले यह निश्चय कर ले कि सुख के लिये मुझे मेरा शुद्धात्मा ही उपादेय है, रागादि कोई परभाव मेरे उपादेय नहीं हैं; ऐसे श्रद्धा व ज्ञान सम्यक् करने से तुझे रागरहित वीतरागी संवेदन होगा। किंतु राग को जो उपादेय

मानता है, उसकी तो श्रद्धा ही विपरीत है, रागरहित वीतरागी संवेदन उसको नहीं होता। राग को उपादेय माननेवाला या साधन माननेवाला तो राग के ही वेदन में रुक जाता है।

भाई! राग को उपादेय करने से और चिदानंदस्वभाव को भूलने से तू अकेला ही चार गति में परिभ्रमण करता हुआ दु:ख को भोग रहा है। अरे, कितना दु:ख? कितनी अशांति? इसमें से तुझे बाहर निकलना और आत्मा की शांति चाहता हो तो संत तुझे यह एक मंत्र देते हैं कि तेरा आत्मा शुद्ध परमात्मा है, उसी को उपादेय करके उसी का रटन कर। इस जगत में कहीं पर भी यदि शरण हो व कहीं पर भी सुख हो तो वह शुद्ध आत्मा में ही है, इसके सिवाय और कोई न तो शरण है, और अन्यत्र कहीं न सुख है। अतएव तेरे शुद्धात्मा को देहादि से अत्यंत भिन्न पहचान, उसका आश्रय व शरण कर, उसी को उपादेय करके उसमें ज्ञान को जोड़–यही अतीन्द्रिय सुख है।

स्वद्रव्य में जो रत है, वही सम्यग्दृष्टि है और वह सम्यग्दृष्टि स्वद्रव्य में ही परिणमन करता हुआ अष्ट कर्म को नष्ट करता है। सम्यग्दर्शन के बिना स्वद्रव्य में रति नहीं होती, और स्वद्रव्य में लीनता के बिना मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। स्वद्रव्य में रतिरूप सम्यग्दर्शन होते ही बहुत से कर्म तो छूट गये। बाद में उसी भाव में वृद्धिंगत होते–होते चारित्रदशा प्रगट हो करके सर्व कर्म छूट जाते हैं और मुक्ति होती है। अतएव मुक्ति के लिए मुमुक्षु को स्वद्रव्यरूप चैतन्यरत्न ही निरंतर चिंतन योग्य है। चैतन्य चिंतामणि के चिंतन से समयग्दर्शन से लेकर के सिद्धपद तक के इष्ट पद की प्राप्ति होती है।

भाई ज्ञान का मार्ग सुहेला रे ॥भाई० ॥
दरब न चहिये न देह न दहिये, जोग भोग न नवेला रे ॥भाई० ॥१ ॥
लड़ना नाहीं मरना नाहीं, करना बेला तेला रे।
पढ़ना नाहीं गढ़ना नाहीं, नाच न गावन मेला रे ॥भाई० ॥२ ॥
न्हांना नाहीं खाना नाहीं, नाहिं कमाना धेला रे।
चलना नाहीं, जलना नाहीं, गलना नाहीं देला रे ॥भाई० ॥३ ॥
जो चित चाहै सो नित दाहै, चाह दूर करि खेला रे।
'द्यानत' यामैं कौन कठिनता वे परवार अकेला रे ॥भाई० ॥४ ॥

निश्चय और व्यवहारनयों की मर्यादा

श्री विद्वद्रत्न रामजी माणिकचंद दोशी, एडवोकेट

(गतांक नं० २४१ से आगे)

अनेकांत

३३—उपरोक्त कथनानुसार निश्चय और व्यवहारनय दोनों को हेय-उपादेय के ज्ञानसहित जो प्रमाणज्ञान किया जाये, उसको अनेकांत कहते हैं।

३४—इस संबंध में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३११-३१२ उपयोगी है।

गाथा ३११ 'अनेकांत नियमात्' शब्द लगाया है।

३५—अनेकांत का स्वरूप इस दो गाथा के भावार्थ में पंडित जयचंद्रजी ने विस्तार से लिखा है। उसमें निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समयसार में जो कहा है, वह उन्होंने बहुत स्पष्ट करके समझाया है। अंत में कहा है कि अध्यात्म शास्त्र में जहाँ निश्चय-व्यवहारनय कहे हैं, वहाँ भी उन दोनों का परस्पर विधि-निषेधपूर्वक सप्तभंग से वस्तु को साधना अर्थात् इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का यथार्थस्वरूप जाने बिना अनेकांत स्वरूप होता ही नहीं।

३६—वहाँ पर श्री पंडित जयचंद्रजी ने मुख्य को निश्चय तथा गौण को व्यवहार कहा है। यह बात खास उपयोगी है। कारण कि वहाँ निश्चय को मुख्य नहीं कहा है किंतु मुख्य को निश्चय कहा है, उसका कारण यह है कि स्व अपेक्षा से पर्याय को भी निश्चय कह सकते हैं और पर्याय अथवा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव ऐसे चार भेद भी स्व अपेक्षा से निश्चय है लेकिन भेद होने से आश्रय करने योग्य नहीं है [भेद के आश्रय से तो राग की उत्पत्ति होती है, अतः शुद्धि के लिये भेद-व्यवहार का आश्रय छूटना ही चाहिये।]

३७—इसलिये निश्चय को मुख्य कहना ठीक नहीं है किंतु मुख्य को निश्चय कहना ठीक है। मुख्य को निश्चय कहा है, उसका अर्थ यह है कि मुख्य ज्ञायकस्वभाव जो द्रव्य का त्रिकाली एकरूप सामान्य ध्रुवस्वरूप, वह मुख्य है और वह उपादेय है। यह कथन समयसार की ६-७-११ गाथा के अनुरूप है।

समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार गाथा ३२४-३२७ के हेडिंग की सूचनिका में पंडित जयचंद्रजी ने कहा है, वह बात बहुत उपयोगी है। देखो—रायचंद्र जैनशास्त्रमाला, समयसार पृष्ठ

४२८ 'आगे व्यवहारनय के वचनकर कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है, ऐसे व्यवहार को ही जो निश्चयरूप मान लेते हैं, वे अज्ञान से मान लेते हैं। उसे दृष्टांत से कहते हैं' इस गाथा और उसकी टीका बहुत उपयोगी है, जो निम्न प्रकार है। 'इसलिये ज्ञानी परद्रव्य मेरा नहीं है, ऐसा जानकर परद्रव्य के लौकिकजन तथा मुनियों के कर्तापन के व्यापार को जानता हुआ ऐसा जानता है कि ये सम्यग्दर्शन रहित हैं।'

इन गाथाओं में भी आचार्यदेव गाथा ३०८ से ३११ में तथा प्रथम गाथा ९७ में जैसे 'कर्तृत्व' छुड़ाया है। वैसे यहाँ भी अज्ञान दशा का सकल कर्तृत्व छुड़ाते हैं।

समयसार गाथा ४१४ में व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग दोनों कहे हैं, उसमें व्यवहारनय दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय (निश्चय मोक्षमार्ग) वह सभी लिंगों को चाहता नहीं है, इसप्रकार यहाँ भी व्यवहार का निश्चयनय द्वारा प्रतिषेध किया गया है। निश्चय मोक्षमार्ग भी पर्याय होने से व्यवहार है, और वह भी शुद्धता प्रगट करने के लिये गाथा २२ के कथनानुसार आश्रय करने योग्य नहीं है।

श्री प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और द्रव्यसंग्रह के कथन का उपरोक्त कथन के साथ मेल कैसे है ?

१. प्रवचनसार

३८—श्री प्रवचनसार गाथा ३५ संस्कृत टीका का अंतिम भाग निम्न प्रकार है—'ज्ञातृज्ञानविभाग क्लेशकल्पनया' यह कथन समयसार गाथा ११ के अनुसार है कारण कि यहाँ यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञान का भेद करने से क्लेश उत्पन्न होता है, इसलिये ऐसा भेद शुद्धि उत्पन्न करने के लिये प्रयोजनवान नहीं है। (मात्र जानने योग्य है, आश्रय करने योग्य नहीं है)।

३९—शुद्धनय गाथा १९२ संस्कृत टीका का अंतिम भाग 'एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्र - शुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाम - संगसंगच्छमानानेकमार्ग पादपच्छाया स्थानीयैरध्रुवैः।' और गाथा की सूचनिका में 'अत्र शुद्धात्मै - वोपलम्भनीय इत्युपदिशति' यहाँ जो शुद्धनय कहा है, वह समयसार गाथा ११ और १४ में कथित शुद्धनय जो आश्रय करने योग्य कहा है वही है।

४०—गाथा २७५ में कहा है कि—प्रवचनस्य सार भूतं भूतार्थ-स्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्द-स्वभावमननुभूतपूर्वं भगवंतमात्मानमवाप्नोति।

४१—प्रवचनसार में सम्यग्ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है। इससे श्री आचार्यदेव ने नयों के संबंध में परिशिष्ट दिया है, उसमें ४७ नयों का वर्णन है। उसमें साधक को एक ही साथ एक समय में प्रवर्तते अनेक धर्मों में से ४७ धर्म नय द्वारा कहे हैं। वे सम्पूर्णनय सर्व साधक जीवों को एक साथ होते हैं अर्थात् किसी एक जीव को तो एक नय और दूसरे किसी जीव को किसी काल में दूसरा नय प्रयुक्त हो, ऐसा नहीं है। और यह बात उसके आगे के कथन से जानी जा सकती है तथा उस विषय को पूर्ण करके कलश नं० १९ जो उपयोगी है, उसमें कहा है कि नयसमूह द्वारा देखो या प्रमाण द्वारा देखो तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाला निज आत्मद्रव्य को अंतरंग में शुद्ध चैतन्यमात्र ही देखना। ये शब्द बहुत उपयोगी हैं क्योंकि यहाँ ऐसा दिखाते हैं कि चाहे तो नय द्वारा अथवा प्रमाण द्वारा आत्मा का ज्ञान किया जाये, वहाँ 'निज आत्मा को अंतरंग में शुद्ध चैतन्यमात्र देखना' अर्थात् सभी प्रमाण नय के कथन का सार यह हुआ कि भूतार्थनय का विषय शुद्ध ज्ञायकमात्र का आश्रय करना चाहिये। जो समयसार की गाथा ११ के ही अनुरूप है। क्योंकि यह गाथा ११ जैनधर्म का प्राण है।

४२—अब उसमें कथित नयों में कर्ता-भोक्ता संबंधी नं० ३८, ३९, ४०, ४१ है। वह संक्षेप में निम्न प्रकार है। नं० ३८ 'कर्तृनयेन रंजकवद्रागादिपरिणामकर्तृ' यहाँ प्रश्न होना संभव है कि साधक जीव को समयसार में राग का अकर्ता कहा है और यहाँ कर्ता क्यों कहा? उसका समाधान निम्न प्रकार है।

४३—भेदज्ञान दो प्रकार है (१) पर से अपनी आत्मा को भिन्न करना (२) स्वद्रव्य जो त्रिकालिक एकरूप शुद्ध ज्ञायकतत्त्व है, उसको अपनी वर्तमान विकारी पर्याय से भिन्न करना। यहाँ दोनों प्रकार का भेदज्ञान कराया है। प्रथम विकार का भेदज्ञान में ऐसा कहा है कि रागादि परिणाम का कर्ता पौद्गलिक (द्रव्य) कर्म की उदय अवस्था आदि अन्य कोई परद्रव्य नहीं है। इसलिये कर्तृत्वनय द्वारा जीव को अपने अशुद्ध उपादान के कारण राग का कर्ता कहा है और दूसरे प्रकार का भेदज्ञान कराने के लिये रागादि विभाव का स्वामी ज्ञानी नहीं होता किंतु स्वयं ज्ञाता और राग उसका ज्ञेय, ऐसा (व्यवहार) संबंध होता है। देखो समयसार गाथा ७५ तथा १०१ श्री अमृतचंद्राचार्य टीका:—यह बात यहाँ ३९वें कर्तृत्वनय से जीव केवल साक्षी ही है, ऐसा कहकर जीव को उसका ज्ञाता कहा है, वही बात नय नं ४०-४१ की भोक्तृत्व-अभोक्तृत्वनय से लागू होती है और यह ही नियम नं० ४६-४७ अशुद्धनय-शुद्धनय में लागू होती है।

४४—श्री समयसार में भी ज्ञानी जीव अपने को रागादि का कर्ता नहीं मानते। रागादिक को पुद्गल का परिणाम कहा है, वह निश्चयनय की अपेक्षा से कहा है। इस विषय में गाथा ७५ के बाद एक विशेष गाथा वहाँ पर श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि 'निश्चयेन अकर्ता व्यवहारेण कर्ता इति पुण्यपापादि कर्मजनित उपाधि परिणामात्' अर्थात् प्रवचनसार का नय नं० ३९ से ४१ समयसार के साथ सुसंगत है। (प्रवचनसार गाथा १८९ से १९१ तक भी इसके संबंध में खास देखने योग्य है।)

२. पंचास्तिकाय

४५—पंचास्तिकाय गाथा २७ में संसारी जीव के स्वरूप में टीकाकार आचार्य ने निश्चय-व्यवहार दोनों नय लागू किये हैं किंतु उसका उपभेद उसमें नहीं तथा समयसार में भी श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निश्चय-व्यवहार ऐसे दो ही भेद करके उसका उपभेद नहीं करके जो कथन किया है, उसके अनुसार यहाँ टीकाकार ने किया है।

४६—गाथा ६२ में अमृतचंद्राचार्य ने टीका में जीव और कर्म दोनों निश्चयनय से अपनी-अपनी पर्याय का (विकारी या अविकारी अवस्था का) कर्ता कहा है और स्वयमेव षट्कारक रूप से वर्तता अन्य कारक (निमित्त) की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहा है।

४७—पंचास्तिकाय गाथा ६१ में जिन वचन शब्द है। टीका में निम्न प्रकार बताया है कि 'निश्चय से जीव को अपना भावों का कर्तापना है और पुद्गल कर्म का अकर्तापना है। ऐसा यहाँ आगम द्वारा दर्शाया है।'

४८—गाथा १०३ में पंचास्तिकाय के अवबोध का फल कहा है। वहाँ कहा है कि यह पंचास्तिकाय संग्रह 'जीवास्तिकायांतर्मूतमात्मानं अत्यंत विशुद्ध चैतन्यस्वभाव स्वरूपेण निश्चित्य।' यह कथन समयसार गाथा ११ में कहे हुए भूतार्थनय के विषयभूत शुद्धात्मा को आश्रय करने के लिये कहा है।

४९—पंचास्तिकाय गाथा १०४ में निम्न प्रकार कहा है—'एतस्य शास्त्रस्यार्थभूतं शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानं कश्चिंजीवस्तावंजानीते। ततस्तमेवानुगतुमुद्यमते।' यहाँ भी समयसार गाथा ११ के अनुसार निज ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेने को कहा है और उसी के आश्रय से चारित्र का विशेष पुरुषार्थ हो सकता है। आगे कहा है कि 'ततोऽस्य क्षीयते दृष्टिमोहः। ततः स्वरूप परिचयादुन्मज्जति ज्ञानज्योतिः। ततो रागद्वेषौ प्रशाम्यतः। ततः उत्तरः पूर्वश्च बंधो विनश्यति। ततः पुनर्बंधहेतुत्वाभावात् स्वरूपस्थो नित्यं प्रतपतीति।' अर्थात् यहाँ भी समयसार गाथा ११ के अनुसार

कहा है कि धर्म के लिये आदि से अंत तक अकेले निश्चयनय के आश्रय से अर्थात् उसके विषयभूत नित्य ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की उत्पत्ति-वृद्धि स्थिति और पूर्णता होती है।

५०—श्री जयसेनाचार्य ने भी समयसार गाथा ३९० से ४०४ की टीका में कहा है—'ततः स्थितं शुद्धपारिणामिक परमभावग्राहकेण शुद्ध द्रव्यार्थिकनयेन शुद्ध उपादानरूपेण जीवादि व्यावहारिक नवपदार्थेभ्योभिन्न आदिमध्यान्त उक्तं अखंड एक प्रतिभासमयं निज निरंजन सहजशुद्धपरमसमयसारअभिधानं सर्वप्रकार उपादेय भूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यं इति एवं व्यावहारिक नवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एक वास्तयःवस्थित इति व्याख्यानमुख्यतेव एकादशमस्थलेपंचदशगाथा गता।'

५१—श्री पंचास्तिकाय में ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है और ऊपर कहे अनुसार पंचास्तिकाय और समयसार का कथन भी एक ही प्रकार से है।

३. नियमसार

५२—श्री नियमसार गाथा ८ में कहा है कि आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता-भोक्ता व्यवहार से है और कर्मजनित भाव का कर्ता-भोक्ता निश्चयनय से है। इस गाथा की टीका में कहा है कि 'इति अशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम्' यहाँ आत्मा को पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्ता व्यवहारनय से कहा है। इस गाथा का अर्थ समयसार ८४, ९८ तथा १०५ को साथ में रखकर करना चाहिये। और ऐसा अर्थ करने से 'अज्ञानियों को यह व्यवहार है' ऐसे समझना चाहिये। [नियमसार की उक्त गाथा में पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्तापन कहा है, वह ज्ञान की प्रधानता से स्वनय कहा जाता है। श्रद्धा की मुख्यता से अध्यात्मशास्त्र में उसे नयाभास कहा जाता है।]

५३—शुद्धभाव अधिकार गाथा ३८ तथा ५० खास ध्यान में रखने योग्य है। उसमें एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और उसकी कोई भी पर्यायें उपादेय नहीं हैं और इसलिए मूल गाथा में ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि पूर्वोक्त परस्वभाव है, परद्रव्य है; इसलिए हेय है और अंतःतत्त्वरूप स्वद्रव्य आत्मा उपादेय है और उसकी टीका के आधार में समयसार गाथा ३०० के नीचे कलश नं० १८५ है वह आधाररूप में दिया है, वहाँ टीका में—'अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः।' ऐसा है, उन पर से भी नियमसार में समयसार की गाथा ११ में कथित सिद्धांत का अनुसरण किया गया है।

५४—निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार गाथा ७७ से ८१ तक पाँच गाथाओं को पंचरत्नों में कही है और समयसार के अनुसार सूचनिका में आचार्य ने कहा है कि 'अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति' अर्थात् यह कथन भी जैसे समयसार कर्त्ताकर्म अधिकार में तथा सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में जीवों को सर्व कर्तृत्व का अभाव बताया है वैसे यहाँ भी दिखाया है। इसलिये जैनशास्त्र में सर्वत्र जीव को सकल कर्तृत्व छुड़ाया है। कारण कि इसप्रकार सकल कर्तृत्व श्रद्धा में से भी न हटाया जाये तो कभी भी उसे सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता।

५५—('निमित्त कर्ता'पना भी अज्ञानी को ही होता है, यह बात इन पाँच गाथाओं से स्पष्ट निकलती है।) नियमसार में पंचरत्न स्वरूप यह पाँच गाथा खास पढ़ने योग्य है। उसमें जीव रागादि भाव का व कषाय का कर्ता नहीं है, मात्र सहज चैतन्य विलासरूप आत्मा को मैं भाता हूँ – ऐसा दर्शाया है।

५६—इसप्रकार नियमसार का कथन भी समयसार के साथ सुसंगत है और यह नियमसार शास्त्र आचार्यदेव ने अपनी भावना के लिये बनाया है (गाथा १८७)।

४. बृहद् द्रव्यसंग्रह

५७—कर्ता-भोक्ता की गाथा ८-९ में जीव को 'शुद्धनय से' शुद्ध भावों का कर्ता, 'निश्चयनय से' चेतनकर्म का कर्ता और 'व्यवहार से' पुद्गल कर्म का कर्ता—ऐसे तीन प्रकार एक गाथा में कहा है। उसमें जो निश्चयनय कहा है, वह 'अशुद्ध निश्चयनय' समझना, ऐसा टीकाकार ने कहा है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारन से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा तीन शरीर, छह पर्याप्ति का तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार से घट पटादि का कर्ता कहा है।

५८—इसके बारे में स्पष्टता गाथा १६ की टीका पृष्ठ ४६ में निम्न प्रकार है—'किञ्च विशेषः—कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः। तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्ध निश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव।' इससे सिद्ध होता है कि अनुचरित असद्भूत व्यवहारनय से अज्ञानी जीव पुद्गल कर्म, नौकर्मादि का कर्ता है किंतु ज्ञानी जीव नहीं; ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव जानता है। (मिथ्यादृष्टि जीव का कोई नयरूप परिणमन होता नहीं है।)

५९—रागादि विकार अशुद्ध निश्चयनय से जीव का है और शुद्ध निश्चयनय से पुद्गल का है, यह कथन समयसार गाथा ५० से ५५ का अनुसरण करता है।

६०—द्रव्यसंग्रह गाथा ३१ जो द्रव्य आस्रव की है उसमें भी ''जं पुग्गलं समासवदि' स्नेहाभ्यक्तशरीराणां धूलिरेणुसमागम इव निष्कषायशुद्धात्मसंवित्तिच्युत जीवानां कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गलद्रव्यं समास्रवति। 'दव्वासवो स णेओ' द्रव्यास्रवः स विज्ञेयः।' यह कथन भी समयसार गाथा १०१ के अनुसार ज्ञानी को कर्मास्रव होता नहीं और गाथा १०२ अज्ञानी को कर्मास्रव होता है, उस कथनानुसार है तथा समयसार बंधाधिकार गाथा २३७ से २४१ जो अज्ञानी के बंध के लिये है। और गाथा २४२ से २४६ जो ज्ञानी के अबंध के लिये है, उसके अनुसार यह कथन है।

६१—द्रव्यसंग्रह गाथा ८-९ की टीका में—'किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम् न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति। यतो हि नित्यनिरंजन निष्क्रियनिजात्म स्वरूपभावनारहितस्य कर्मादि कर्तृत्वं व्याख्यातम् ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या।' इस पर से यह सिद्धांत सिद्ध होता है कि ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई भी जीव हस्तादि पुद्गल परिणाम का अकर्ता है, मात्र अज्ञानी निज आत्मस्वरूप की भावना से रहित होने के कारण उसको ही कर्मादिक का कर्ता कहा गया है—ज्ञानी को नहीं। [समयसार गाथा ८४ टीका में कहा है कि—जीव, पुद्गल कर्म का कर्ता है, भोक्ता है-ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है। भावार्थ में पंडित श्री जयचंदजी ने कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक भाव को देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव, पुद्गल कर्म का कर्ता है, भोक्ता है। अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादि से प्रसिद्ध व्यवहार है। ×××श्रीगुरु भेदज्ञान कराकर परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं। जो नयाभास है। देखो पंचाध्यायी।]

६३—अज्ञानी भी द्रव्यकर्म का कर्ता उपादान से नहीं किंतु निमित्त कर्ता कहा जाता है, ज्ञानी तो पुद्गल के परिणाम का उपादानकर्ता या निमित्तकर्ता भी नहीं माना जाता। [ज्ञानी को आस्रव-बन्ध का कर्ता कहा जाता है, वह ज्ञान की प्रधानता से चारित्र की निर्बलता का ज्ञान कराने के लिए है; श्रद्धा की प्रधानता से ज्ञानी विकार का कर्ता होता नहीं, अज्ञानी जीव ही श्रद्धा की प्रधानता से विकार का कर्ता होता है।]

६४—जीव को अशुद्धनय से जो अशुद्धभाव का कर्ता कहा है, उसमें भी समयसार गाथा १०२ जयसेनाचार्य की टीका में निम्न प्रकार है—'अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्ध उपादानरूपेण मिथ्यात्व रागादि भावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः। स चाशुद्धनिश्चयोयद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपा-असद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां' लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इसप्रकार संपूर्ण कथन समयसार संगत है।

५. परमात्मप्रकाश

(रायचंद्र जैन ग्रंथमाला) परमात्मप्रकाश गाथा १०७ पृष्ठ १११ हिन्दी टीका में निम्न प्रकार लिखा है—इसका अर्थ ऐसा है कि जैन सिद्धांत में परिग्रहरहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है, जो धर्म को भी नहीं चाहता है, अर्थात् जिनको व्यवहार धर्म की भी कामना नहीं है, उसके अर्थ तथा काम की इच्छा कहाँ से होवे? इस पर से सिद्ध होता है कि परमात्मप्रकाश में भी साधक को व्यवहारनय के विषयरूप शुभ आचरण, जिसे 'व्यवहार धर्म' कहा जाता है, वह भूमिकानुसार आये बिना रहता नहीं तो भी उसको छोड़ने योग्य मानते हैं, आश्रय करने योग्य नहीं मानते। इसलिये सह सर्व शास्त्र का आशय समयसार गाथा ११ के अनुसार एक ही प्रकार का है, ऐसा समझना चाहिए।

अध्यात्मशास्त्र का आगमशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के साथ परस्पर अविरोध

६५—उसके संबंध में अष्टपाहुड़, सूत्रपाहुड़ की गाथा नं० ६ की टीका में निम्न प्रकार है। भावार्थः—जिनसूत्रकूं व्यवहारपरमार्थरूप यथार्थ जानि योगीश्वर मुनि है, सो कर्म का नाश करि अविनाशी सुखरूप मोक्षकूं पावै है। तहाँ परमार्थ कहिये निश्चय और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप ऐसा जो जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोगरूप शास्त्रनि में दोय प्रकार सिद्ध है। बहुरि जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करिये, सो अध्यात्म है तथा अहेतुमत् तथा हेतुमत् ऐसैं भी दोय प्रकार है। तहाँ जो सर्वज्ञ की आज्ञा ही करि केवल प्रमाणता मानिये, सो तो अहेतुमत् है, अर जहाँ प्रमाण नयनि करि वस्तु की निर्बाध सिद्धि जामै करि मानिये सो हेतुमत् है।

६६—आगम में नैगम-संग्रहादि सात नय निश्चयनय के भेद कहे हैं किंतु वह सातों नय अध्यात्मशास्त्र अनुसार व्यवहारनय ही है, इस संबंध में पंचाध्यायी भाग १, गाथा १४४ के भावार्थ की फुटनोट में पंडितजी देवकीनंदनजी ने स्पष्ट लिखा है।

६७—आगम में यह सात नय उपरांत उपनय के रूप में असद्भूत व्यवहार कहा जाता है और वह अध्यात्मशास्त्र में व्यवहार कहा जाता है और पंचाध्यायीकार ने भी उसे व्यवहार में लिया है। समयसार में भी उसे व्यवहार कहा है। आगम में कथित असद्भूत व्यवहार को पंचाध्यायी में नयाभास कहा है और समयसार गाथा ८४-९६-१०५ की टीका में उसे अज्ञानी को ही लागू किये हैं और 'असद्भूत का अर्थ पंचाध्यायी के कथन में आगे दिया है।

६८—आगम में अवधिज्ञान का विषय रूपी कहा है, वहाँ जीव के औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिकभाव उन तीनों को भी अवधिज्ञान का विषय कहा है और अध्यात्म-शास्त्र में भी उन भावों को रूपी-पुद्गल परिणाम कहा है। इस प्रकार आगम और अध्यात्मशास्त्र में मेल है तथा आगम में जो सद्भूतव्यवहार कहा गया है, वैसा ही सद्भूतव्यवहार अध्यात्म-ग्रंथ पंचाध्यायी में भी स्वीकार किया है। इस बारे में समयसार गाथा ५० से ५५ में जयसेनाचार्य ने आगम और अध्यात्म का मेल है, विरोध नहीं है। ऐसा निम्न प्रकार कथन में कहा है।

'अयमत्रभावार्थः—सिद्धांतादि शास्त्रे अशुद्धपर्यायार्थिकनयेन अभ्यंतर रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादियोपि जीवाः इति उक्ताः अयः पुनः अध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इति उभयत्रापि नयविभाग विवक्षया नास्तिविरोधः' (गाथा ५१-५५ टीका)।

६९—बाद में समयसार में गाथा ५६ में जयसेनाचार्य की टीका निम्न प्रकार है—

'अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धान्तादौ जीवस्य वर्णादियो व्यवहारेण कथिताः अत्रतु प्राभृतग्रंथे निश्चयनये निषिद्धा तमेवार्थं दृढ़यति।'

७०—इसप्रकार नय विभाग से विचार करने पर आगम-अध्यात्म शैली में किसी प्रकार का विरोध आता नहीं। आगम अहेतुवाद होने से उसमें कोई हेतु देने में नहीं आता।

७१—आगम में पुद्गल को दो प्रकार कहा है। प्रायोगिक, वैस्रसिक—उसमें वैस्रसिक में परमाणुओं का बंध और सूक्ष्म स्कंधों का बंध, स्थूल के साथ सूक्ष्म का बंध, स्थूल के साथ स्थूलों का बंध, ऐसा अनेक प्रकार के बंध तथा भेद, संघात और भेद संघात बतलाये हैं।

७२—पुद्गल के प्रायोगिक स्कंध का जीव के भावों के साथ संबंध है। उन प्रायोगिक बंध -वाले पुद्गलों को छोड़कर अनंतानंत पुद्गल सूक्ष्म और स्थूल स्कंधों से बंधते हैं, बिछुड़ते हैं यह सब पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वह पंचाध्यायी में ग्रहण किया ही नहीं। कारण कि उनका अध्यात्म के साथ संबंध नहीं है। मात्र जीव का विभाव भाव और पुद्गल का प्रायोगिक बंध के साथ की बात पंचाध्यायी के प्रथम भाग में नयाभास में कही है।

७३—पंचाध्यायी भाग २ में जहाँ छः द्रव्यों का कथन है, वहाँ ऐसा जीव का और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक संबंध अनेक जगह कहा है किंतु पुद्गल के वैस्रसिक परिणमन को वहाँ लिया नहीं है कारण कि साधक को वह उपयोगी नहीं है।

७४—दूसरे भाग की गाथा ६०६ में आगम अनुसार देव (अर्हंत) को द्रव्यार्थिकनय से कहा

है 'एकोदेवो सद्रव्यार्थिकसिद्धाः।'

७५—पंचाध्यायी भाग २ गाथा ३५१ से ३६१ में निमित्त-उपादान की चर्चा है तथा गाथा १३३ से १३९ में नयों का वर्णन है, वह भी आगम के अनुसार है, उसमें ज्ञान की मुख्यता से कथन है। कारण कि वहाँ परपदार्थ तथा परपदार्थ के साथ का संबंधमात्र बताने का प्रयोजन है। उपरांत आगम तथा समयसार के सभी नयों को उस कथन में समाविष्ट किया है। इसप्रकार पंचाध्यायी के दोनों भाग सामने रखकर विचार करने से अन्य कथन के साथ कोई विरोध देखने में नहीं आता।

७६—गोम्मटसार कर्मकांड गाथा १५ में जीव को सप्तभंगी का श्रद्धान करना, ऐसा लिखा है उसकी टीका में पंडित टोडरमलजी ने लिखा है कि 'संसारी जीव पहिलैं पदार्थों के देख करि पीछै जाने। बहुरि तिस पदार्थ कौं अस्तिनास्ति इत्यादिक सप्तभंगीनिकरि निश्चयकरि पीछै श्रद्धान करै है।'

७७—इस पर से यह निश्चित हुआ कि आगम के अर्थ करने में सप्तभंगी अनेकांत सिद्धांत को उसके अभ्यास करनेवालों को (पढ़नेवालों को) ध्यान में रखना चाहिये।

७८—सार यह है कि जीव अपने कार्य का कर्ता है, यह अस्ति और पर के (पुद्गल कर्मों का) कार्य का कर्ता नहीं है, यह नास्ति इस प्रकार पाँच भंग लगा लें।

★

नया प्रकाशन

देशव्रतोद्योतनम् (दूसरी आवृत्ति सचित्र)

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के देशव्रतोद्योतन नामक अधिकार पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, हिन्दी अनुवाद श्री बंशीधरजी शास्त्र एम०ए०, प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, ५५ नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ०-५०, पोस्टेज २५ पैसे, श्रावक को तत्त्वज्ञान सहित षट्कर्मों को प्रतिदिन करने के विषय में, आप इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ें इसमें उत्तम भक्तिमय प्रसंग के पाँच चित्र हैं। जो देखते ही बनते हैं।

(१) जिन प्रतिमा अंकन्यास विधि, (२) दक्षिण तीर्थ श्री बाहुबली चरणाभिषेक, (३) पौन्नूर क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य के चरणों की पूजा, आदि।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

योगसार दोहा

योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा और भैया भगवतीदासजी तथा श्री कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान दोहा-तत्त्वज्ञान समझने में तथा याद करने में बड़ी सुगम और रोचक होने से थोक मंगाकर सभी जिज्ञासुओं में बांटने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है। बहुत बड़े टाइप व बढ़िया कागज में छपा हुआ है, पृष्ठ २४ मूल्य १२ पैसे पोस्टेज अलग।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी-समाचार

तारीख ५-६-६५ - परमोपकारी पूज्य स्वामीजी आनंद मंगलरूप सुखशांति से विराजमान हैं। सवेरे परमात्मप्रकाश तथा दोपहर को श्री समयसारजी कलश टीका पर प्रवचन चल रहे हैं।

गढ़डा स्वामीनारायण (सौराष्ट्र)

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा नया गृह चैत्यालय वेदी सहित बना है। उसमें श्रीजी को विराजमान करने की विधि श्री खेमचंदभाई शेठ द्वारा हुई तारीख २०-६-६५ अषाढ़ वद ६ शुभ दिन में अनेक गाँव से साधर्मीजन एक हुए, रथयात्रा सहित मंदिरजी में पहुँच श्री खेमचंदजी शेठ ने अपने मस्तक पर श्री महावीर भगवान को विराजमान करके वेदी में विधिपूर्वक, जय जयकार सहित विराजमान किये। बाद में समूह पूजन हुआ, प्रवचन भी हुआ। स्वतंत्र अलग जगह मिलने पर नया मंदिर बनाने की भावना है, उसके लिये करीब १५०००, का चंदा हुआ है, जिसमें पहले जो चंदा हुआ था, वह समाविष्ट है।

समयसार कलश टीका के ग्राहकों से निवेदन

यह पुस्तकें सब बिक चुकी हैं। अत: फिर छपाने के लिए यह जानना जरूरी है कि आप कितने ग्रंथ लेंगे। करीब ८०० ग्रंथों के ग्राहक होने पर पुन: उसके छपवाने की व्यवस्था की जा सकेगी, अत: पत्र द्वारा सूचित कीजियेगा।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)।

नया प्रकाशन

छहढाला सचित्र (सुबोध टीका)

पूर्वाचार्य श्री गुरुओं ने जितने भी उपदेश दिये हैं उन सभी उपदेशों के साररूप यह पाठ्यपुस्तक है। साथ ही उन उपदेशों के कथित भाव के प्रदर्शक चित्र भी दिये हैं, जिनकी संख्या १४१ है।

बाल, वृद्ध किसी को भी आत्महित में मन लगाकर प्रसन्नता प्राप्त करना हो तो इसमें समझने की पद्धति बहुत सरल है। स्वपर में तत्त्वज्ञान का प्रचार हो, और इसके द्वारा बच्चों को भी उत्तम संस्कार प्राप्त हो, प्रसन्नता से पढ़े ही पढ़े, इसलिए शीघ्र मंगाकर प्रचार कीजिये। पृष्ठ संख्या २०८, मूल्य १.००, पोस्टेज-२० पैसा।

मिलने का पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विज्ञप्ति

धार्मिक उत्सव अष्टाह्निका तथा दस लक्षण पर्यूषण पर्व भाद्रपद मास के लिये प्रवचनकार विद्वान की आवश्यकता हो तो अपने यहाँ की संस्था द्वारा पत्र लिखें:—

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल प्रचार कमेटी
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्री प्रवचनसार शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान-दर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव, (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़ेवाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २.१० रुपये, (किसी को कमीशन नहीं है)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इन्दौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।